विनोबा के विचार

[पहला भाग]

●

परिचय

गांधीजी

●

प्रस्तावना

स्व० महादेव देसाई

●

१९५७

सत्साहित्य प्रकाशन

प्रस्तावना

प्रसिद्धि की जिनको कभी परवाह नही थी उनको पूज्य गाधीजी के सत्याग्रह ने असाधारण प्रसिद्धि दे दी। यह प्रसिद्धि मिल गई तो उससे भी जलकमलवत् निर्लिप्त रहने की शक्ति जितनी श्री विनोबा की हैं उतनी और किसीकी नही है। जिन विशेषताओ के लिए पूज्य गाधीजी ने उन्हे प्रथम सत्याग्रही की हैसियत से पसद किया उन विशेषताओं को सब लोग समझ नही सके है, ऐसी मुझे आशका है। कई बडे-बडे सरकारी अफसरो ने मुझसे कहा कि जवाहरलालजी, भूलाभाई तो बडे नेता है, उनको कडी सजा देनी पडती है, क्योंकि उनका प्रभाव हजारो लोगो पर है। विनोबा तो Small fry यानी अल्प जीव है, उनको गाधीजी ने बढाया है, उनके असर का सरकार को डर नही है। डर हो या न हो, मि० एमरी ने भी अब श्री विनोबा का नाम अपने निवेदन में दिया और उनका एक सच्चे दयाधर्मी के नाम से उल्लेख किया है।

विनोबा का प्रभाव आज नही, वर्षों के बाद लोग जानेगे। उनकी थोडी विशेषताओ का निर्देश करना मैं आवश्यक समझता हू। वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, शायद वैसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भी होगे। वह प्रखर विद्वान है, वैसे प्रखर विद्वान् और भी है। उन्होने सादगी को वरण किया है, उनसे भी अधिक सादगी से रहनेवाले गाधीजी के अनुयायियो में कई है। वह रचनात्मक कार्य के महान पुरस्कर्ता और दिन-रात उसीमे लगे रहनेवाले व्यक्ति है, ऐसे भी कुछ गाधी-मार्गानुगामी है। उनकी-जैसी तेजस्वी बुद्धि-शक्तिवाले भी कई है। परतु उनमे कुछ और भी चीजे है जो और किसीमे नही है। एक निश्चय किया, एक तत्त्व ग्रहण किया तो उसका उसी क्षण से अमल करना—उनका प्रथम पक्ति का गुण है। उनका दूसरा गुण निरंतर विकासशीलता का है। शायद ही हममे से कोई ऐसा हो जो कह सके कि मैं प्रतिक्षण विकास कर रहा हू। बापू को छोडकर यदि और किसीमें यह गुण

मैंने देखा है तो विनोबा में । इसलिए छियालीस साल की उम्र में उन्होंने अरबी-जैसी कठिन भाषा का अभ्यास किया, कुरानशरीफ का अनुष्ठान किया और उसके हाफिज बन गए हैं । बापू के कई बड़े अनुयायी ऐसे हैं, जिनका प्रभाव जनता पर बहुत पड़ता है, पर बापू ने शायद ही किसी अनुयायी ने सत्य-अहिंसा के पुजारी और कार्यरत सच्चे सेवक उतने पैदा किये हों जितने कि विनोबा ने पैदा किये हैं । "योगः कर्मसु कौशलम्" के अर्थ में विनोबा सच्चे योगी हैं । उनके विचार, वाणी और आचार में जैसा एक-राग है वैसा एकराग बहुत कम लोगों में होगा, इसलिए उनका जीवन एक मधुर संगीतमय है । "संचार करो सकल कर्मे शांत तोमर छंद" कविवर टैगोर की यह प्रार्थना शायद विनोबा पूर्वजन्म से करते आये हैं । ऐसे अनुयायी से गांधीजी और उनके सत्याग्रह की भी शोभा है ।

उनके कुछ लेखों का यह संग्रह बड़ा उपयोगी होगा । उनकी मित-भाषिता, उनके विचार और वाणी का संयम और उनकी तत्त्वनिष्ठा का इस संग्रह में पद-पद पर परिचय मिलेगा ।

सेवाग्राम —महादेव देसाई
२५-११-४०

प्रथम सत्याग्रही विनोबा

श्री विनोबा भावे कौन है ? मैंने उन्हें ही इस सत्याग्रह के लिए क्यों चुना ? और किसीको क्यो नही ? मेरे हिंदुस्तान लौटने पर सन् १९१६ में उन्होंने कालिज छोडा था। वह संस्कृत के पंडित हैं। उन्होंने आश्रम में शुरू से ही प्रवेश किया था। आश्रम के सबसे पहले सदस्यों में से वह एक है। अपने सस्कृत के अध्ययन को आगे बढाने के लिए वह एक वर्ष की छुट्टी लेकर चले गए। एक वर्ष के बाद ठीक उसी घड़ी, जबकि उन्होने एक वर्ष पहले आश्रम छोडा था, चुपचाप आश्रम में फिर आ पहुचे। मैं तो भूल भी गया था कि उन्हे उस दिन आश्रम में वापस पहुचना था। वह आश्रम में सब प्रकार की सेवा-प्रवृत्तियो—रसोई से लगाकर पाखाना-सफाई तक—में हिस्सा ले चुके हैं। उनकी स्मरणशक्ति आश्चर्य-जनक है। वह स्वभाव से ही अध्ययनशील हैं। पर अपने समय का ज्यादा हिस्सा वह कातने में ही लगाते हैं, और उसमें ऐसे निष्णात हो गये हैं कि बहुत ही कम लोग उनकी तुलना में रखे जा सकते हैं। उनका विश्वास है कि व्यापक कताई को सारे कार्य-क्रम का केंद्र बनाने से ही गावो की गरीबी दूर हो सकती है। स्वभाव से ही शिक्षक होने के कारण उन्होंने श्रीमती आशादेवी को दस्तकारी के द्वारा बुनियादी तालीम की योजना का विकास करने में बहुत योग दिया है। श्री विनोबा ने कताई को बुनियादी दस्तकारी मानकर एक पुस्तक भी लिखी है। वह बिल्कुल मौलिक चीज है। उन्होंने हँसी उड़ानेवालों को भी यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि कताई एक ऐसी अच्छी दस्तकारी है, कि जिसका उपयोग बुनियादी तालीम में बखूबी किया जा सकता है। तकली कातने मे तो उन्होंने क्राति ही ला दी है और उसके अंदर छिपी हुई तमाम शक्तियो को खोज निकाला है। हिंदुस्तान में हाथकताई में इतनी संपूर्णता किसीने प्राप्त नही की, जितनी कि उन्होंने की है।

उनके हृदय में छुआछूत की गंध तक नहीं है। साम्प्रदायिक एकता में उनका उतना ही विश्वास है, जितना कि मेरा। इस्लाम धर्म की खूबियों को समझने के लिए उन्होंने एक वर्ष तक कुरानशरीफ का मूल अरबी में अध्ययन किया। इसके लिए उन्होंने अरबी भी सीखी। अपने पड़ोसी मुसलमान भाइयों से अपना सजीव सपर्क बनाये रखने के लिए उन्होंने इसे आवश्यक समझा।

उनके पास उनके शिष्यों और कार्यकर्त्ताओं का एक ऐसा दल है जो उनके इशारे पर हर तरह का बलिदान करने को तैयार है। एक युवक ने अपना जीवन कोढ़ियों की सेवा में लगा दिया है। उसे इस काम के लिए तैयार करने का श्रेय श्री विनोबा को ही है। औषधियों का कुछ भी ज्ञान न होने पर भी अपने कार्य मे अटल श्रद्धा होने के कारण उसने कुष्ठ-रोग की चिकित्सा को पूरी तरह समझ लिया है। उसने उनकी सेवा के लिए कई चिकित्साघर खुलवा दिये। उसके परिश्रम से सैकड़ो कोढ़ी अच्छे होगये हैं। हाल ही में उसने कुष्ठ रोगियो के इलाज के सबध में एक पुस्तिका मराठी में लिखी है।

विनोबा कई वर्षों तक वर्धा के महिला-आश्रम के सचालक भी रहे हैं। दरिद्रनारायण की सेवा का प्रेम उन्हे वर्धा के एक गाव में खीच ले गया। अब तो वह वर्धा से पाच मील दूर पौनार नामक गाव में जा बसे हैं और वहा से उन्होंने अपने तैयार किये हुए शिष्यो के द्वारा गाववालो के साथ सपर्क स्थापित कर लिया है। वह मानते हैं कि हिंदुस्तान के लिए 'राजनैतिक-स्वतन्त्रता' आवश्यक है। वह इतिहास के निष्पक्ष विद्वान् हैं। उनका विश्वास है कि गाववालो को रचनात्मक कार्यक्रम के बगैर सच्ची आजादी नही मिल सकती। और रचनात्मक कार्यक्रम का केंद्र है खादी। उनका विश्वास है कि चरखा अहिंसा का बहुत ही उपयुक्त बाह्य चिह्न है, उनके जीवन का तो वह एक अग ही बन गया है। उन्होंने पिछली सत्याग्रह की लड़ाइयो में सक्रिय भाग लिया था। वह राजनीति के मच पर कभी लोगो के सामने आये ही नही। कई साथियो की तरह उनका यह विश्वास है कि सविनय आज्ञाभग के अनुसधान में शात रचनात्मक काम कही ज्यादा प्रभावकारी होता है, इसकी अपेक्षा कि जहा आगे ही राजनैतिक भाषणो का

अखड प्रवाह चल रहा है वहा जाकर और भाषण दिये जाय। उनका पूर्ण विश्वास है कि चरखे मे हार्दिक श्रद्धा रखे बिना और रचनात्मक कार्य में सक्रिय भाग लिये बगैर अहिसक प्रतिकार सभव नही।

श्री विनोबा युद्धमात्र के विरोधी हैं, परतु वह अपनी अतरात्मा की तरह उन दूसरा की अतरात्मा का भी उतना ही आदर करते है जो युद्धमात्र के विरोधी तो नही हैं, परतु जिनकी अतरात्मा इन वर्तमान युद्धो मे शरीक होने की अनुमति नही देती। अगरचे श्री विनोबा दोना दलो के प्रतिनिधि के तौर पर हैं, यह हो सकता है कि सिर्फ हाल के इस युद्ध में विरोध करनेवाले दल का खास एक और प्रतिनिधि चुनने की मुझे आवश्यकता लगे।

'हरिजन सेवक'
२५-११-४०

—मो० क० गाधी

विषय-सूची

विनोबा के विचार

पहला भाग

: १ :

बूढ़ा तर्क

ज्यादा उम्रवाले को अपने यहा बूढा कहते है। इस देश में आजकल ऐसे बूढे बहुत कम मिलते है। हम लोगो की जिंदगी का औसत २४ बरस का पडता है। कहते हैं, विलायत वगैरह देशो मे इससे दूना है। इससे वहा बूढे बहुत मिलते हैं।

अपने यहा ऐसे बूढे चाहे कम हो, मर एक और तरह के बूढे तो बहुत है। वह किस तरह के है? किसी विद्वान ने कहा है कि नई चीज सीखने की आशा जिसने छोड दी, वह बूढा है। ऐसे बूढे अपने यहा, जहा देखिये, मिल जायगे। बचपन में जो पल्ले पड गया, पड गया। इसके बाद यदि जरा बडे होकर किसी धधे मे लग गये और तब कहा गया कि एकाध चीज सीख लो तो वैसा कुछ होने का नही। इस जडता ने पढ-अनपढ दोनो में मुद्दतो की गुलामी के कारण घर-सा कर दिया है। पढे हुआ मे यह कुछ अधिक ही है, कम नही।

एक बार एक राष्ट्रीय पाठशाला के शिक्षको को मैंने सहज सुझाया, "आप थोडी-सी हिंदी सीख लें। हिंदी को हमने राष्ट्रभाषा माना है। राष्ट्रीय पाठ-शाला में तो हिंदी की शिक्षा को स्थान होना चाहिए। और हिंदी फिर कोई कठिन भाषा नही है, सहज है और इसी कारण वह राष्ट्रभाषा बन सकी है। गर्मी की किसी छुट्टी में हिंदी भाषा सहज ही, मजे से, सीखी जा सकेगी। आप

सीख लें तो फिर हम भी बच्चों को थोडी हिंदी सिखा सकेंगे।" इसपर उनकी ओर से सीधा जवाब मिला, "आप जो कहते हैं, वह ठीक है। हिंदी कोई वैसी कठिन भाषा नही है। पर अब हमसे कोई नई चीज सीखते बनेगा, ऐसा नही लगता। मुझे जो कुछ आता है, उससे आप जी चाहे जितना काम ले लीजिए। चाहे तो चार के बदले पाच घटे पढा देंगे, पर नया सीखने के लिए न कहिए। सीखते-सीखते ऊब गया!" बेचारा जिंदगी से भी ऊबा हुआ दिखा। इसका नाम है 'बूढा'।

यह तो हुई सादी हिंदी सीखने की बात। अगर कोई जरा बढकर कहे कि हिंदू-मुस्लिम एकता दृढ करनी हो तो दोनों को ही पास आकर एक-दूसरे को अच्छी तरह जान लेना चाहिए। इससे बहुत-सी गलत-फहमी अपने-आप दूर हो जायगी। इसके लिए देवनागरी लिपि के साथ-ही-साथ राष्ट्रीय पाठशालाओं में उर्दू लिपि सिखाई जाय। "और चूकि यह करना है, इसलिए शिक्षक पहले वह लिपि सीख ले", फिर तो वह पागलो मे ही शुमार किया जायगा। "अजी साहब, मुसलमानो की सारी बातें उल्टी होती है। हम चोटी रखते हैं, वह कटवाते हैं। हम दाढी साफ करवाते है, वह दाढी रखते हैं। कहते हैं, यही बात उनकी लिपि की है। हम बायी ओर से दाहिनी तरफ लिखते है तो वह दाहिनी तरफ से बाई ओर! ऐसी लिपि हमसे कैसे सीखी जा सकेगी!" यह उनका जवाब है। यह कल्पना से नही लिखता, ऊपर का जवाब एक सज्जन से सचमुच मिला है। मुसलमानो के बारे मे उनका कथन मजाक में वैसा हो गया, अन्यथा वह उनके मन के भाव नही थे। मन की बात इतनी ही थी कि *"नया नही सीखना।"*

और अगर सूत कातने को कह दिया? फिर तो पूछिए ही नही। "पहले तो वक्त ही बहुत कम मिलता है, और वक्त अगर ज्यो-त्यो करके निकाला भी तो आज तक ऐसा काम कभी किया नही तो अब कैसे होगा?" यहा से शुरूआत होगी। "जो आज तक नही हुआ, वह आगे भी नही होने का।" यह बूढा तर्क है। मालूम नही, कि इन बूढो को यह क्यो नही समझ पडता कि जो आज तक नही हुई, ऐसी बहुत-सी बातें आगे होने वाली है। आज तक मेरे

लडके का ब्याह नही हुआ, वह अभी होने को है, यह मेरी समझ में आता है। लेकिन अबतक मेरे हाथ से सूत नही कता, वह आगे कतने को है, यह मेरी समझ में क्या नहीं आता? इसका जवाब साफ है। आज तक मैंने स्वराज्य नही पाया है, वह आगे पाना है, यह हमारे ध्यान में न होने की वजह से। और इसीके साथ आज तक मैं मरा नही हू तो भी आगे मरना है, बल्कि आज तक मैं मरा नही, इसीलिए आगे मरना है, इस बात का भी भान नही रहा इसलिए।

मेरे मन, आज तक मैं मरा नही, इससे आगे नही मरना है, ऐसे बूढ़े तर्क का आसरा मत लो, नहीं तो फजीहत होगी।

: २ :

त्याग और दान

एक आदमी ने भलेपन से पैसा कमाया है। उससे वह अपनी गृहस्थी सुख-चैन से चलाता है। बाल-बच्चा का उसे मोह है, देह की ममता है। स्वभावत ही पैसे पर उसका जोर है। दिवाली नजदीक आते ही वह अपना तलपट सावधानी से बनाता है। यह देखकर कि सब मिलाकर खर्च जमा के अदर है और उसमें पूजी कुछ बढी ही है, उसे खुशी होती है। बडे ठाठ से और उतने ही भक्तिभाव से वह लक्ष्मीजी की पूजा करता है। उसे द्रव्य का लोभ है, फिर भी नाम का कहिए या परोपकार का कहिए, उसे खासा खयाल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान-धर्म के लिए—इसी में देश को भी ले लीजिए—खर्च किया हुआ धन ब्याज समेत वापस मिल जाता है। इसलिए इस काम में वह खुले हाथो खर्च करता है। अपने आस-पास के गरीबो को इसका इस तरह बडा सहारा लगता है जिस तरह छोटे बच्चो को अपनी मा का।

दूसरे एक आदमी ने इसी तरह सचाई से पैसा कमाया था। लेकिन इसमें उसे सतोष न होता था। उसने एक बार बाग के लिए कुआ खुदवाया। कुआ बहुत गहरा था। उसमें से थोडी मिट्टी, कुछ ढर्रा और बहुत पत्थर निकले।

कुआ जितना गहरा गया, इन चीजो का ढेर भी उतना ही ऊंचा लग गया। मन-ही-मन वह सोचने लगा, "मेरी तिजोरी में पैसे का ऐसा ही टीला लगा हुआ है, उसी अनुपात से किसी और जगह कोई गड्ढा तो नही पड गया होगा!" विचार का धक्का बिजली जैसा होता है, इतने विचार से ही वह हडबडाकर सचेत हो गया। वह कुआ तो उसका गुरु बन गया, कुए से उसे जो कसौटी मिली, उसपर उसने अपनी सचाई को घिसकर देखा। वह खरी नही उतरती, ऐसा ही उसे दिखाई दिया। इस विचार ने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यापारिक सचाई की रक्षा मैंने भले ही की हो, फिर भी इस बालू की बुनियाद पर मेरा मकान कबतक टिक सकेगा?' अत में पत्थर, मिट्टी और मानिक-मोतियो में उसे कोई फर्क नही दिखाई दिया। यह सोचकर कि फिजूल का कूडा-कचरा भरकर रखने से क्या लाभ, वह एक दिन सबेरे उठा और अपनी सारी सपत्ति गधे पर लादकर गगा के किनारे ले गया। "मा, मेरा पाप धो डाल!" इतना कहकर उसने वह कमाई गगामाता के आचल में उडेल दी और बेचारा स्नान करके मुक्त हुआ। उससे कोई-कोई पूछते हैं, "दान ही क्या न कर दिया?" वह जवाब देता है "दान करते समय 'पात्र' तो देखना पडता है। अपात्र को दान देने से धर्म के बदले अधर्म होने का डर जो रहता है। मुझे अनायास गगा का 'पात्र' मिल गया, उसमें मैंने दान कर दिया। इससे भी सक्षेप में वह इतना ही कहता है 'कूडे-कचरे का भी कही दान किया जाता है?' उसका अतिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसके सपत्ति-त्याग से उसके सब सगो ने उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दान की है दूसरी त्याग की। आज के जमाने में पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है उस तरह दूसरी नही। लेकिन यह हमारी कमजोरी है। इसीलिए शास्त्रकारो ने भी दान की महिमा कलियुग के लिए कही है। 'कलियुग' माने क्या? कलियुग माने दिल की कमजोरी। दुबल हृदय द्रव्य के लोभ को पूरी तरह नहीं छोड सकता। इसलिए उसके मन की उडान अधिक से-अधिक दान तक ही हो सकती है। त्याग तक तो उसकी पहुच नही हो सकती। लोभी मन को तो त्याग का नाम सुनते ही जाने कैसा

लगता है। इसलिए उसके सामने शास्त्रकारों ने दान के ही गुण गाये हैं।

त्याग तो बिल्कुल जड पर ही आघात करनेवाला है। दान ऊपर-ही-ऊपर से कोपलें खोटने-जैसा है। त्याग पीने की दवा है, दान सिर पर लगाने की सोंठ है। त्याग में अन्याय के प्रति चिढ है, दान में नाम का लिहाज है। त्याग से पाप का मूलधन चुकता है, और दान से पाप का ब्याज। त्याग का स्वभाव दयालु है, दान का ममतामय। धर्म दोनों ही पूर्ण हैं। त्याग का निवास धर्म के शिखर पर है, दान का उसकी तलहटी में।

पुराने जमाने में आदमी और घोडा अलग-अलग रहते थे, कोई किसीके अधीन न था। एक बार आदमी को जल्दी का एक काम आ पडा। उसने थोडी देर के लिए घोडे से उसकी पीठ किराये पर मागी। घोडे ने भी पडोसी के धर्म को सोचकर आदमी का कहना स्वीकार कर लिया। आदमी ने कहा, "लेकिन तेरी पीठ पर मैं यों नहीं बैठ सकता। तू लगाम लगाने देगा, तभी मैं बैठ सकूगा। लगाम लगाकर मनुष्य उस पर सवार हो गया और घोडे ने भी थोडे समय मे काम बजा दिया। अब करार के मुताबिक घोडे की पीठ खाली करनी चाहिए थी, पर आदमी से लोभ न छूटता था। वह कहता है, "देख भाई, तेरी यह पीठ मुझसे छोडी नहीं जाती, इसलिए इतनी बात तू माफ कर। हा, तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी न भूलूगा। इसके बदले में मैं तेरी खिदमत करूगा, तेरेलिए घुडसाल बनाऊगा, तुझे दाना-घास दूगा, पानी पिलाऊगा, खरहरा करूगा, जो कहेगा, वह करूगा; पर छोडने की बात मुझसे न कहना।" घोडा बेचारा कर ही क्या सकता था? ज़ोर से हिनहिनाकर उसने अपनी फरियाद भगवान् के दरबार में पेश की। घोडा त्याग चाहता था, आदमी दान की बातें कर रहा था। भले आदमी, कम-से-कम अपना यह करार तो पूरा होने दे!

: ३ :

कृष्ण-भक्ति का रोग

'दुनिया पैदा करें' ब्रह्माजी की यह इच्छा हुई। इसके अनुसार कारबार शुरू होनेवाला ही था कि कौन जाने कैसे उनके मन में आया कि 'अपने काम में भला-बुरा बतानेवाला कोई रहे, तो बडा मजा रहेगा।' इसलिए आरभ में उन्होने एक तेज तर्रार टीकाकार गढा, और उसे यह अख्तियार दिया कि आगे से मैं जो कुछ गढूगा, उसकी जाच का काम तुम्हारे जिम्मे रहा। इतनी तैयारी के बाद ब्रह्माजी ने अपना कारखाना चालू किया। ब्रह्माजी एक-एक चीज बनाते जाते और टीकाकार उसकी 'चूक दिखाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करता जाता। टीकाकार की जाच के सामने कोई चीज बे-ऐब ठहर ही न पाती। "हाथी ऊपर नही देख पाता, ऊट ऊपर ही देखता है। गदहे में चपलता नही है, बदर अत्यत चपल है।" यो टीकाकार ने अपनी टीका के तीर छोडने शुरू किये। ब्रह्माजी की अकल गुम हो गई। फिर भी उन्होने एक आखिरी कोशिश कर देखने की ठानी और अपनी सारी कारीगरी खर्च करके 'मनुष्य' गढा। टीकाकार उसे बारीकी से निरखने लगा। अत में एक चूक निकल ही आई। "इसकी छातीमे एक खिडकी होनी चाहिए थी, जिससे इसके विचार सब समझ पाते।" ब्रह्माजी बोले—"तुझे रचा, यही मेरी एक चूक हुई, अब मैं तुझे शकरजी के हवाले करता हू।"

यह एक पुरानी कहानी कही पढी थी। इसके बारे मे शका करने की सिर्फ एक ही जगह है। वह यह कि कहानी के वर्णन के अनुसार टीकाकार शकरजी के हवाले हुआ नही दीखता। शायद ब्रह्माजी को उसपर दया आ गई हो, या शकरजी ने उसपर अपनी शक्ति न आजमाई हो। जो हो, इतना सच है कि आज उनकी जाति बहुत फैली हुई पाई जाती है। गुलामी के जमाने में कर्तृत्व बाकी न रह जाने पर बकबक को मौका मिलता है। काम की बात खत्म हुई कि बात का ही काम रहता है। और बोलना ही है

तो नित्य नए विषय कहा से खोजे जाय ? इसलिए एक सनातन विषय चुन लिया गया—"निंदा-स्तुति जन की, वार्ता वधू-धन की।" पर निंदा-स्तुति मे भी तो कुछ बाट-बखरा होना चाहिए। निंदा अर्थात् पर-निंदा और स्तुति अर्थात् आत्म-स्तुति। ब्रह्माजी ने टीकाकार को भला-बुरा देखने को तैनात किया था। उसने अपना अच्छा देखा, ब्रह्माजी का बुरा देखा। मनुष्य के मन की रचना ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दूसरे के दोष उसको जैसे उभरे हुए साफ दिखाई देते हैं, वैसे गुण नही दिखाई देते। सस्कृत में "विश्व-गुणादर्श-चपू' नाम का एक काव्य है। वेंकटाचारी नाम के एक दाक्षिणात्य पंडित ने लिखा है। उसमें यह कल्पना है कि कृशानु और विभावसु नाम के दो गधर्व विमान में बैठकर फिर रहे हैं, और जो कुछ उनकी नजरो के सामने आता है, उसकी चर्चा किया करते हैं। कृशानु दोष-द्रष्टा है, विभावसु गुण-ग्राहक है। दोनो अपनी-अपनी दृष्टि से वर्णन करते है। गुणादर्श अर्थात् 'गुणो का दर्पण' इस काव्य का नाम रखकर कवि ने अपना निर्णायक मत विभावसु के पक्ष में दिया है। फिर भी कुल मिलाकर वर्णन का ढग कुछ ऐसा है कि अत से पाठक के मन पर कृशानु के मत की छाप पडती है। गुण लेने के इरादे से लिखी हुई चीज की तो यह दशा है। फिर दोष देखने की वृत्ति होती तो क्या हाल होता ?

चद्र की भांति प्रत्येक वस्तु के शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष होते है। इसलिए दोष ढूढनेवाले मन के यथेच्छ विचरने मे कोई बाधा पडनेवाली नहीं है। 'सूर्य दिन में दिवाली करता है, फिर भी रात को अधेरा ही देता है' इतना ही कह देने से उस सारी दिवाली की होली हो जायगी। उसमें भी अवगुण ही लेने का नियम बना लिया जाय, तो दो दिनो में एक रात न दिखकर एक दिन के अगल-बगल दो रातें दिखाई देंगी। फिर अग्नि की ज्योति की ओर ध्यान न जाकर धुएं से अग्नि का अनुमान करनेवाले न्याय-शास्त्र का निर्माण होगा। भगवान् ने ये सब मजे की बातें गीता में बतलाई हैं। अग्नि का धुआ, सूर्य की रात अथवा चद्र का कृष्ण पक्ष देखनेवाले 'कृष्ण-भक्तो' का उन्होंने एक स्वतत्र वर्ग रक्खा है। दिन में आखें बद की तो अधेरा

: ३ :

कृष्ण-भक्ति का रोग

'दुनिया पैदा करें' ब्रह्माजी की यह इच्छा हुई। इसके अनुसार कारबार शुरू होनेवाला ही था कि कौन जाने कैसे उनके मन में आया कि 'अपने काम-में भला-बुरा बतानेवाला कोई रहे, तो बडा मजा रहेगा।' इसलिए आरंभ में उन्होंने एक तेज तर्रार टीकाकार गढा, और उसे यह अख्तियार दिया कि आगे से मैं जो कुछ गढूंगा, उसकी जांच का काम तुम्हारे जिम्मे रहा। इतनी तैयारी के बाद ब्रह्माजी ने अपना कारखाना चालू किया। ब्रह्माजी एक-एक चीज बनाते जाते और टीकाकार उसकी चूक दिखाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करता जाता। टीकाकार की जांच के सामने कोई चीज बे-ऐब ठहर ही न पाती। "हाथी ऊपर नहीं देख पाता, ऊंट ऊपर ही देखता है। गदहे में चपलता नहीं है, बंदर अत्यंत चपल है।" यों टीकाकार ने अपनी टीका के तीर छोड़ने शुरू किये। ब्रह्माजी की अक्ल गुम हो गई। फिर भी उन्होंने एक आखिरी कोशिश कर देखने की ठानी और अपनी सारी कारीगरी खर्च करके 'मनुष्य' गढा। टीकाकार उसे बारीकी से निरखने लगा। अंत में एक चूक निकल ही आई। "इसकी छातीमें एक खिड़की होनी चाहिए थी, जिससे इसके विचार सब समझ पाते।" ब्रह्माजी बोले—"तुझे रचा, यही मेरी एक चूक हुई, अब मैं तुझे शंकरजी के हवाले करता हूं।"

यह एक पुरानी कहानी कहीं पढ़ी थी। इसके बारे में शंका करने की सिर्फ एक ही जगह है। वह यह कि कहानी के वर्णन के अनुसार टीकाकार शंकरजी के हवाले हुआ नहीं दीखता। शायद ब्रह्माजी को उसपर दया आ गई हो, या शंकरजी ने उसपर अपनी शक्ति न आजमाई हो। जो हो, इतना सच है कि आज उनकी जाति बहुत फैली हुई पाई जाती है। गुलामी के जमाने में कर्तृत्व बाकी न रह जाने पर वक्तृत्व को मौका मिलता है। काम की बात खत्म हुई कि बात का ही काम रहता है। और बोलना ही है

तो नित्य नए विषय कहां से खोजे जायं ? इसलिए एक सनातन विषय चुन लिया गया—"निंदा-स्तुति जन की, वार्ता वधू-धन की।" पर निंदा-स्तुति में भी तो कुछ बांट-बखरा होना चाहिए। निंदा अर्थात् पर-निंदा और स्तुति अर्थात् आत्म-स्तुति। ब्रह्माजी ने टीकाकार को भला-बुरा देखने को तैनात किया था। उसने अपना अच्छा देखा, ब्रह्माजी का बुरा देखा। मनुष्य के मन की रचना ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दूसरे के दोष उसको जैसे उभरे हुए साफ दिखाई देते हैं, वैसे गुण नहीं दिखाई देते। संस्कृत में "विश्व-गुणादर्श-चंपू" नाम का एक काव्य है। वेंकटाचारी नाम के एक दाक्षिणात्य पंडित ने लिखा है। उसमें यह कल्पना है कि कृशानु और विश्वावसु नाम के दो गंधर्व विमान में बैठकर फिर रहे हैं, और जो कुछ उनकी नजरों के सामने आता है, उसकी चर्चा किया करते हैं। कृशानु दोष द्रष्टा है, विश्वावसु गुण-ग्राहक है। दोनों अपनी-अपनी दृष्टि से वर्णन करते हैं। गुणादर्श अर्थात् 'गुणों का दर्पण' इस काव्य का नाम रखकर कवि ने अपना निर्णायक मत विश्वावसु के पक्ष में दिया है। फिर भी कुल मिलाकर वर्णन का ढंग कुछ ऐसा है कि अंत में पाठक के मन पर कृशानु के मत की छाप पड़ती है। गुण लेने के इरादे से लिखी हुई चीज की तो यह दशा है। फिर दोष देखने की वृत्ति होती तो क्या हाल होता ?

चंद्र की भांति प्रत्येक वस्तु के शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष होते हैं। इसलिए दोष ढूंढनेवाले मन के यथेच्छ विचरने में कोई बाधा पड़नेवाली नहीं है। 'सूर्य दिन में दिवाली करता है, फिर भी रात को अंधेरा ही देता है' इतना ही कह देने से उस सारी दिवाली की होली हो जायगी। उसमें भी अवगुण ही लेने का नियम बना लिया जाय, तो दो दिनों में एक रात न दिखकर एक दिन के अगल-बगल दो रातें दिखाई देंगी। फिर अग्नि की ज्योति की ओर ध्यान न जाकर धुएं से अग्नि का अनुमान करनेवाले न्याय-शास्त्र का निर्माण होगा। भगवान् ने ये सब मजे की बातें गीता में बतलाई हैं। अग्नि का धुआं, सूर्य की रात अथवा चंद्र का कृष्ण पक्ष देखनेवाले 'कृष्ण-भक्तों' का उन्होंने एक स्वतंत्र वर्ग रक्खा है। दिन में आंखें बंद की तो अंधेरा

और रात को खोली तो अधेरा—स्थितप्रज्ञ की इस स्थिति के अनुसार इन लोगो का कार्यक्रम है। पर भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के लिए मोक्ष वतलाया है तो इनके लिए कपाल-मोक्ष। पर इतना होने पर भी यह सम्प्रदाय छूतहे रोग की भाति बढ रहा है। पुतली के काली होने या काले रग में आकर्षण अधिक होने की वजह से काला पक्ष जैसा हमारी आख में भरता है, वैसा उज्ज्वल पक्ष नही भरता। ऐसी स्थिति मे यह साप्रदायिक रोग किस ओषधि से अच्छा होगा, यह ज्ञान रखना जरूरी है।

पहली दवा है चित्त मे भिदी हुई इस 'कृष्ण-भक्ति' को बाहरी कृष्ण न दिखाय, भीतर के कृष्ण के दर्शन कराय। लोगो की कालिख देखने की आदी निगाह को मन के भीतर की कालिख दिखाय। विश्व के गुण-दोष को जाचकर देखनेवाला मनुष्य बहुधा अपने-आपको निर्दोष मान बैठता है। उसका यह भ्रम दूर होने पर उसके परीक्षण का डक अपने-आप टूट जाता है। बाइबिल के 'नए करार' में इस बारे मे एक सुदर प्रसग का उल्लेख है—एक बहन से कोई बुरा काम शायद होगया। उसकी जाच करके न्याय देने के लिए पच बैठे थे। वहा श्रवण-भक्त भी काफी तादाद में जुट गए होगे, यह कहने की आवश्यकता ही नही। किंतु विशेषता यह थी कि उस बहन का सद्भाग्य भगवान् ईसा को वहा खीच लाया था। पचो ने फैसला सुनाया, "इस बहन ने घोर अपराध किया है। सब लोग पत्थरो से मारकर उसे शरीर से मुक्त करे।" फैसला सुनते ही लोगो के हाथ फडकने लगे और आस-पास के ढेले थर-थर कापने लगे। भगवान् ईसा को उस बहन पर दया आई। उन्होने खडे होकर सबसे एक ही बात कही—'जिसका मन बिल्कुल साफ हो, वह पहला ढेला मारे।' जमात जरा देर के लिए ठिठक गई। फिर धीरे धीरे वहा से एक-एक आदमी खिसकने लगा। अत में वह अभागी बहन और भगवान् ईसा ये दो ही रह गये। भगवान् ने उसे थोडा उपदेश देकर प्रेम से विदा किया। यह कहानी हमें सदा ध्यान में रखनी चाहिए।

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय ।
जो घट खोजा आपना मुझ-सा बुरा न कोय ॥

दूसरी दवा है मौन । पहली दवा दूसरे के दोष दिखें ही नहीं, इसलिए है । दृष्टि-दोष से दोष दिखने पर यह दूसरी दवा अचूक काम करती है । इससे मन भीतर-ही-भीतर तडफडायेगा । दो-चार दिन नींद भी खराब जायगी, पर आखिर में थककर मन शांत हो जायगा । तानाजी के खेत रहने पर मावले पीठ दिखा देंगे ऐसे रंग दिखाई पडने लगे । तब जिस रस्सी की मदद से वे गढ़ पर चढ़े थे, और जिसकी मदद से अब वे उतरने का प्रयत्न करनेवाले थे, वह रस्सी ही सूर्याजी ने काट डाली । "वह रस्सी तो मैंने कभी की काट दी है ।" सूर्याजी के इस एक वाक्य ने लोगों में निराशा की वीरश्री पैदा कर दी और गढ सर हो गया । रस्सी काट डालने का तत्वज्ञान बहुत ही महत्व का है । इसपर अलग से लिखने की जरूरत है । इस वक्त तो इतने ही से अभिप्राय है कि मौन रस्सी काट देने जैसा है । 'या तो दूसरे के दोष देखना भूल जा, नहीं तो बैठकर तडफडाता रह ।' मन पर यह नौबत आ जाती है और यह आ नहीं कि सारा रास्ता सीधा हो जाता है । कारण, जिसको जीना है, उसके लिए बहुत समय तक तडफडाते बैठना सुविधाजनक नहीं होता ।

तीसरी दवा है कर्मयोग में मग्न हो रहना । जैसे आज सूत कातना अकेला ही ऐसा उद्योग है, कि छोटे-बडे सबको काफी हो सकता है, वैसे ही कर्मयोग एक ही ऐसा योग है, जिसकी सर्व-साधारण के लिए बेखटके सिफारिश की जा सकती है । किंबहुना, सूत कातना ही आज का कर्मयोग है ।

सूत कातने का कर्म-योग स्वीकार किया कि लोक निंदा को मथते रहने की फुर्सत ही नहीं रहती । जैसे किसान अन्न-अन्न के दाने की असली कीमत समझता है, वैसे ही सूत कातनेवाले को एक-एक क्षण के महत्व का पता चलता है । "क्षणभर भी खाली न जाने दे" समर्थ की यह सूचना अथवा "क्षणार्धं भी व्यर्थ न खो" नारद का यह नियम क्या कहता है, यह सूत कातते हुए, अक्षरश: समझ में आता है । कर्म-योग का सामर्थ्य अद्भुत है । ऊपर जितना

जोर दिया कम है। यह मात्रा ऐसे अनेक रोगो पर लागू है, पर जिस रोग की उपाय-योजना इस समय की जा रही है उसपर उसका अद्‌भुत गुण अनुभूत है।

तीन दवाए बताई गई। तीनो दवाए रोगियो की जीभ को कडवी तो लगेंगी, पर परिणाम में वे अतिशय मधुर है। आत्म-परीक्षण से मन का, मौन से वाणी का और कर्म-योग से शरीर का दोष झडे बिना आत्मा को आरोग्य नही मिलेगा। इसलिए कडवी कहकर दवा छोडी नही जा सकती। इस के सिवा यह दवा शहद के साथ लेने को है, जिससे इसका कडवापन मारा जायगा। सब प्राणियो में भगवद् भाव होना मधु है। उसमे घोलकर ये तीन मात्राए लेने से सब मीठा हो जायगा।

: ४ :

कवि के गुण

एक सज्जन का सवाल है कि आजकल हम में पहले की तरह कवि क्यो नही है ? इसके उत्तर में नीचे के चार शब्द लिखता हू—

आजकल कवि क्यो नही है ? कवि के लिए आवश्यक गुण नही हैं, इसलिए। कवि होने के लिए किन गुणो की आवश्यकता होती है ? अब हम इसीपर विचार करे।

कवि माने मन का मालिक। जिसने मन नही जीता वह ईश्वर की सृष्टि का रहस्य नही समझ सकता। सृष्टि का ही नाम काव्य है। जबतक मन नही जीता जाता, राग-द्वेष शात नही होते, तबतक मनुष्य इद्रियों का गुलाम ही बना रहता है। इद्रियो के गुलाम को ईश्वर की सृष्टि कैसे दिखाई दे ? वह बेचारा तो तुच्छ विषय-सुख में ही उलझा रहेगा। ईश्वरीय सृष्टि विषय-सुख से परे है। इससे परे की सृष्टि के दर्शन हुए बिना कवि बनना असभव है। सूरदास की आखें उनकी इच्छा के विरुद्ध विषयो की ओर

दौडा करती थी। उन आखो को फोडकर जब वह अधे हुए तब उन्हें काव्य के दर्शन हुए। बालक ध्रुव ने घोर तपश्चर्या द्वारा जब इद्रियो को वश में कर लिया तब भगवान् ने अपने काव्यमय शख से उसके कपोल को छू दिया और इस स्पर्श के साथ ही उस अज्ञान बालक के मुख से साक्षात् वेदवाणी का रहस्य व्यक्त करनेवाला अद्भुत काव्य प्रकट हुआ। तुकाराम ने जब शरीर, इद्रिय और मन को पूर्ण रूप से भग किया तभी तो महाराष्ट्र की अभग-वाणी का लाभ हुआ। मनोनिग्रह के प्रयत्न में जब शरीर पर चीटियो के वमीठे चढ गए तब उसमें से आदि काव्य का उदय हुआ। आज तो हम इद्रियो की सेवा के हाथ विक गए हैं। इसलिए हममें आज कवि नही हैं।

समुद्र जैसे सब नदियो को अपने उदर में स्थान देता है उसी प्रकार समस्त ब्रह्माड को अपने प्रेम से ढक ले इतनी व्यापक बुद्धि कवि में होनी चाहिए। पत्थर में ईश्वर के दर्शन करना काव्य का काम हैं। इसके लिए व्यापक प्रेम की आवश्यकता है। ज्ञानेश्वर महाराज भैसे की आवाज मे भी वेद श्रवण कर सके, इसीलिए वह कवि है। वर्षा शुरू होते ही मेंढको को टर्राता देख वसिष्ठ को जान पडा कि परमात्मा की कृपा की वर्षा से कृत-कृत्य हुए सत्पुरुष ही इन मेढको के रूप में अपने आनदोद्गार प्रकट कर रहे हैं, और इसपर उन्होने भक्ति-भाव से उन मेढको की स्तुति की। यह स्तुति ऋग्वेद में 'मडूक-स्तुति' के नाम से ली गई है। अपनी प्रेमल वृत्ति का रग चढाकर कवि सृष्टि की ओर देखता है। इसीसे उसका हृदय सृष्टि-दर्शन से नाचता है। माता के हृदय में अपनी सतान के प्रति प्रेम होता है। इसलिए उसे देखकर उसके स्तनों का दूध रोके नही रुकता। वैसे ही सकल चराचर सृष्टि के प्रति कवि का मन प्रेम से भरा होता है, इससे उसके दर्शन हुए कि वह पागल हो जाता है। उसकी वाणी से काव्य की धारा वह निकलती है। वह उसे रोक नही पाता। हममें ऐसा व्यापक प्रेम नहीं। सृष्टि के प्रति उदार बुद्धि नही। पुत्र-कलत्र-गृहादि से परे हमारा प्रेम नही गया है। फिर 'वृक्ष वल्ली आम्हां वनचरें सोयरीं'—'वृक्ष, लता और वनचर हमारे

कुटुंबी है'—यह काव्य हमें कहा से सूझे ।

कवि को चाहिए कि वह सारी सृष्टि पर आत्मिक प्रेम की चादर डाल दे । वैसे ही उसको सृष्टि के वैभव से अपनी आत्मा सजाना चाहिए। वृक्ष को लता और वनचरो में उसे आत्म-दर्शन होना चाहिए । साथ ही आत्मा में वृक्ष, वल्ली, वनचरो का अनुभव करते आना चाहिए । विश्व आत्मरूप है, इतना ही नही बल्कि आत्मा विश्वरूप है यह कवि को दिखाई देना चाहिए। *पूर्णिमा के चद्र को देखकर उसके हृदयसमुद्र में ज्वार आना ही चाहिए,* किंतु पूर्णिमा के अभाव में उसके हृदय मे भाटा न होना चाहिए। अमावस्या के गाढ अधकार मे आकाश बादलो से भरा होने पर भी चद्र-दर्शन का आनद उसे मिलना चाहिए । *जिसका आनद बाहरी जगत् में मर्यादित है वह कवि* नही है । कवि आत्मनिष्ठ है, कवि स्वयभू है । पामर दुनिया विषय-सुख से झूमती है।। कवि आत्मानद में डोलता है । लोगो को भोजन का आनद *मिलता है, कवि को आनद का भोजन मिलता है । कवि सयम का सयम है* और इसलिए स्वतत्रता की स्वतत्रता है । टेनिसन ने बहते झरने में आत्मा का अमरत्व देखा, कारण अमरत्व का बहता झरना उसे अपनी आत्मा मे दिखाई दिया था। कवि विश्वसम्राट् होता है, कारण वह हृदय-सम्राट् होता है । कवि को जाग्रत अवस्था में महाविष्णु की योगनिद्रा के स्वप्नो का ज्ञान होता है, और स्वप्न में जाग्रत नारायण की जगत्-रचना देखने को मिलती है । कवि के हृदय में सृष्टि का सारा वैभव सचित रहता है । हमारे हृदय में भूख का ज्ञान भरा हुआ है और मुख में भीख की भाषा । जहा इतना भान भी अभी स्पष्ट नही हुआ कि मैं स्वतत्र हू अथवा मनुष्य हू, वहा आत्मनिष्ठ काव्य-प्रतिभा की आशा नही की जा सकती ।

कवि में,'लोक-हृदय को यथावत् सप्रकाशित' करने का सामर्थ्य होना चाहिए, *यह सभी मानते है, पर लोगो को* इस बात का भान नही होता कि *सत्य-निष्ठा इस सामर्थ्य का मूलाधार है। सत्यपूत वाणी से अमोघ वीर्य* (वीरता) उत्पन्न होता है । "जो सत्य होगा वही बोलूगा," इस तरह के *नैष्ठिक सत्याचरण के फलस्वरूप ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि*

"जो बोला जायगा वही सत्य होगा।" भवभूति ने ऋषियों के काव्य-कौशल का वर्णन किया है कि "ऋषि पहले बोल जाते और बाद में उसमें अर्थ प्रविष्ट होता।" इसका कारण है ऋषियो की सत्यनिष्ठा। **"समूलो वा एष परिशुष्यति। योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हम्यनृतं वक्तुम्।"** जो असत्य बोलता है वह समूल शुष्क हो जाता है, अतः मुझे असत्य नही बोलना चाहिए। प्रश्नोपनिषद् मे ऋषि ने ऐसी चिंता प्रदर्शित की है। जाज्वल्य सत्यनिष्ठा मे से काव्य का जन्म होता है। वाल्मीकि ने पहले रामायण लिखी, बाद को राम ने आचरण किया। वाल्मीकि सत्यमूर्ति थे, अतः राम को उनका काव्य सत्य करना ही पडा। और वाल्मीकि के राम थे भी कैसे—**"द्विः शरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।"** राम न दोबारा बाण छोडते है और न दो बार बोलते है। आदि कवि की काव्य-प्रतिभा को सत्य का आधार था। इसीसे उनके ललाट पर अमरत्व का लेख लिखा गया। सृष्टि के गूढ रहस्य अथवा समाज-हृदय की सूक्ष्म भावनाएं व्यक्त कर दिखाने का सामर्थ्य चाहते हो तो सत्यपूत बोलना चाहिए। हूबहू वर्णन करने की शक्ति एक प्रकार की सिद्धि है। कवि वाचासिद्ध होता है, कारण वह वाचाशुद्ध होता है। हमारी वाचा शुद्ध नही है। असत्य को हम खपा लेते है, इतना ही नही, सत्य हमें खटकता है। ऐसी हमारी दीन दशा है। इसलिए कवि का उदय नही होता।

कवि की दृष्टि शाश्वत काल की ओर रहनी चाहिए। अनत काल की ओर नजर हुए बिना भवितव्यता का परदा नही खुलता। प्रत्यक्ष से अंध हुई बुद्धि को सनातन सत्य गोचर नही होते। सुकरात को विष का प्याला पिलानेवाले तर्क ने सुकरात को मर्त्य देखा। "मनुष्य मर्त्य है और सुकरात मनुष्य है, इसलिए सुकरात मर्त्य है।" इससे आगे की कल्पना उस टुटपुंजिये तर्क को न सूझी, लेकिन विषप्राशन के दिन आत्मा की सत्ता के संबंध में प्रवचन करनेवाले सुकरात को परे का भविष्य स्पष्ट दिखाई देता था। भवितव्यता के उदर में सत्य की जय को छिपा हुआ वह देख रहा था। इस वजह से वह वर्तमान युग के विषय मे बेफिक्र रहा। ऐसी उदासीन वृत्ति मन में रमे

बिना कवि-हृदय का निर्माण नही हो सकता। संसार के सब रस करुण रस की गुलामी मे लगे रहनेवाले है, यह बात समाज के चित्त पर अंकित कर देने का भवभूति ने अनेक प्रकार से प्रयत्न किया। पर तत्कालीन विषयलोलुप उन्मत्त समाज को वह् मान्य न हुआ। उसने भवभूति को ही फेंक दिया। पर कवि ने अपनी भाषा न छोडी। कारण, शाश्वत काल पर उसे भरोसा था। शाश्वत काल पर नजर रखने की हमारी हिम्मत नही होती। चारो तरफ से घिरा हुआ हिरन जैसे हताश होकर आसपास देखना छोड़ देता है और झट बैठ जाता है, वैसे ही हमारी विषय-ग्रस्त-बुद्धि से भावी काल की ओर देख सकना नही होता। "को जाने कल की ? आज जो मिले वह भोग लो" इस वृत्ति से काव्य की आशा नही हो सकती।

ईशावास्योपनिषद् निम्नलिखित ब्रह्म पर मत्र में यह अर्थ सुझाया गया है:

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू।

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

अर्थ—कवि (१) मन का स्वामी, (२) विश्व-प्रेम से भरा हुआ, (३) आत्मनिष्ठ, (४) यथार्थ भाषी और (५) शाश्वत काल पर दृष्टि रखनेवाला होता है।

मनन के लिए निम्नलिखित अर्थ सुझाता हू—

(१) मन का स्वामित्व=ब्रह्मचर्य, (२) विश्वप्रेम=अहिंसा, (३) आत्मनिष्ठता=अस्तेय, (४) यथार्थभाषित्व=सत्य, (५) शाश्वत काल पर दृष्टि=अपरिग्रह।

: ५ :

साक्षर या सार्थक

किसी आदमी के घर में यदि बहुत-सी शीशिया भरी धरी हो तो बहुत करके वह मनुष्य रोगी होगा, ऐसा हम अनुमान करते है। पर किसीके घर में

बहुत-सी पोथिया पडी देखें तो हम उसे सायाना समझेंगे। यह अन्याय नही है क्या ? आरोग्य का पहला नियम है कि अनिवार्य हुए बिना शीशी का व्यवहार न करो। वैसे ही जहातक सभव हो पोथी में आखें न गडाना या कहिए आखो में पोथी न गडाना, यह सयानेपन की पहली धारा है। शीशी को हम रोगी शरीर का चिन्ह मानते है। पोथी को भी—फिर वह सासारिक पोथी हो चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मन का चिन्ह मानना चाहिए।

सदिया बीत गईं, जिनके सयानेपन की सुगध आज भी दुनिया में फैली हुई है, उन लोगो का ध्यान जीवन को साक्षर करने के बजाय सार्थक करने की ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाज में बिना ढढे मिल जायगें। इसके विपरीत निरक्षर जीवन भी सार्थक हो सकता है, इसके अनेक उदाहरण इतिहास ने देखे है। बहुत बार 'सु'-शिक्षित और 'अ'-शिक्षित के जीवन की तुलना करने से 'अक्षराणामकारोऽस्मि' गीता के इस वचन में कहे अनुसार 'सु' के बजाय 'अ' ही पसद करने लायक जान पडता है।

पुस्तक में अक्षर होते है। इसलिए पुस्तक की सगति से जीवन को निरर्थक करने की आशा रखना व्यर्थ है। "बातो की कढी और बातो का ही भात खाकर पेट भरा है किसीका ?" यह सवाल मार्मिक है। कवि के कथनानुसार पोथी का कुआ डुबाता भी नही और पोथी की नैया तारती भी नही।" 'अश्व' मानी 'घोडा' यह कोश में लिखा है। बच्चे सोचते है 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश में लिखा है। पर यह सही नही है। 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश के बाहर तबेले में बधा खडा है। उसका कोश में समाना सभव नही। 'अश्व' माने 'घोडा' यह कोश का वाक्य इतना ही बतलाता है कि, 'अश्व शब्द का वही अर्थ है जो घोडा शब्द का है।' वह है क्या सो तबेले में जाकर देखो। कोश में सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तक में अर्थ नही रहता। अर्थ सृष्टि में रहता है। जब यह बात अक्ल में आयगी तभी सच्चे ज्ञान की चाट लगेगी।

जिसने जप की कल्पना ढढ निकाली उसका एक उद्देश्य था—साक्षरत्व को सक्षिप्त रूप देना। 'साक्षरत्व बिलकुल भूकने ही लगा है' यह देखकर

'उसके मुंह पर जप का टुकड़ा फेंक दिया जाय' तो बेचारे का भूकना बंद हो जायगा और जीवन सार्थक करने के प्रयत्न को अवकाश मिल जायगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकि ने शतकोटि रामायण लिखी। उसे लूटने के लिए देव, दानव और मानव के बीच झगड़ा शुरू हुआ। झगड़ा मिटता न देखकर शंकरजी पंच चुने गये। उन्होंने तीनों को तैंतीस-तैंतीस करोड़ श्लोक बांट दिये। एक करोड़ बचे। यों उत्तरोत्तर बांटते-बांटते अंत में एक श्लोक बच रहा। रामायण के श्लोक अनुष्टुप् छंद के हैं। अनुष्टुप् छंद के अक्षर होते हैं बत्तीस। शंकरजी ने उनमें से दस-दस अक्षर तीनों को बांट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन से थे? 'रा-म'। शंकरजी ने वे दोनों अक्षर बंटवारे की मजदूरी के नाम पर खुद ले लिये। शंकरजी ने अपना साक्षरत्व दो अक्षरों में खत्म कर दिया, तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञान की बराबरी न कर सका। संतों ने भी साहित्य का सारा सार राम-नाम में ला रखा है। पर 'अभाग्या नरा पामरा हे कळे ना'—इस 'अभागे पामर नर को यह नहीं सूझता।'

संतों ने रामायण को दो अक्षरों में समाप्त किया। ऋषियों ने वेदों को एक ही अक्षर में समेट रखा है। साक्षर होने की हवस नहीं छूटती तो 'ओं'कार का जप करो, बस। इतने से काम न चले तो नन्हा-सा माण्डूक्य उपनिषद् पढ़ो। फिर भी वासना रह जाय तो दशोपनिषद् देखो। इस मतलब का एक वाक्य मुक्तिकोपनिषद् में आया है। उससे ऋषि का इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषि का यह कहना नहीं है कि एक अक्षर का भी जप करना ही चाहिए। एक या अनेक अक्षर घोखने में जीवन की सार्थकता नहीं है। वेदों के अक्षर पोथी में मिलते हैं, अर्थ जीवन में खोजना है। तुकाराम का कहना है कि उन्हें संस्कृत सीखे बिना ही वेदों का अर्थ आगया था। इस कथन को आज तक किसीने अस्वीकार नहीं किया। शंकराचार्य ने आठवें वर्ष में वेदाभ्यास पूरा कर लिया, इससे किसी शिष्य ने आश्चर्यचकित होकर किसी गुरु से पूछा, "महा-राज, आठ वर्ष की उम्र में आचार्य ने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया?" गुरु ने

काम करना चाहिए, पर गावों में जाना है तो ग्रामीण बनकर जाना चाहिए। शिक्षण किसलिए ? 'उत्तम नागरिक बनाने को', ऐसा हम आज तक कहते आये हैं या अंग्रेजी विद्या हमसे वैसा कहलाती रही है। पर 'नागरिक' उर्फ 'शहराती' आदमी बनाना, शिक्षण की यह नीति स्वराज्य के काम नही आने वाली है। यह बात ध्यान में रखे बिना चारा नही है। हमें समझना चाहिए कि ग्रामीण बनाने की शिक्षा ही सच्चा शिक्षण है। उसी पाये पर स्वराज्य की रचना की जा सकेगी।

गाव में जाना चाहिए यह तो समझ में आने लगा है, पर ग्रामीण बनना चाहिए, यह बात आज भी मन में उतनी नही जमी है। यह वैसी ही बात हुई कि झोपडी में तो जाना है, पर ऊट से उतरना नही है। अभी यह समझना बाकी है कि ऊट से उतरे बिना झोपडी में प्रवेश नही हो सकता। मैं गाव में जाऊगा और शहर का सारा ठाट साथ लेकर जाऊगा। इसका मतलब यही है कि मैं गाव को शहर बनाऊगा। इसी मतलब से गाव में जाना हो तो इससे तो न जाना ही अच्छा है। चाकरी की शर्त है 'शिव बनकर शिव को पूजना।' किसान की चाकरी करनी हो तो किसान बनकर ही की जा सकती है।

राष्ट्रीय पाठशालाओ को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। नाजुक शहराती बनाने की हवस छोडकर करारे किसान तैयार कराने का मनसूबा बाधना चाहिए। हमारे शिक्षित लोग अगर जरा जफाकश हुए तो अग्रेजो को वे चुभने लगेगे और वे जरूर उनके रास्ते में अडचनें पैदा करेंगे। पर हमें उसकी परवाह नही करनी चाहिए। अग्रेज कहेंगे, "अग्रेजी सीखो, नही तो अधकार में पडे रहोगे। अग्रेजी सीख जाने से जग का ज्ञान तुम्हारी मुट्ठी में आ जायगा।" हमें उनसे इतना ही कहना चाहिए कि "जग का ज्ञान कि जगणे[1] का ज्ञान, हमारे सामने यह 'नकद' सवाल है। सारा जग हमारी मुर्दों मे गिनती करता है, इतना समझनेभर का ज्ञान हमें हो चुका है।"

---

१. जीना।

अंग्रेजी के ग्रहण में छूटना ही चाहिए। इसके बिना राष्ट्रीय विद्यालयों का तेज फैलनेवाला नहीं है। अंग्रेजी पढ़ा आदमी किसानों से बोल भी नहीं सकता, किसान बनने की बात तो दूर रही। उसकी और किसान की भाषा ही नहीं मिलती। किसानों के लिए उसके दिल में नफरत रहती है। गाव में रहना उसके लिए नामुमकिन है। इसलिए अंग्रेजी के मोह को धता बताए बिना उपाय नहीं। इसके मानी यह नहीं है कि कोई भी अंग्रेजी न पढ़े। अंग्रेजी पढ़ने के लिए हम आजाद हैं। पर अंग्रेजी पढ़ने के लिए हम बंधे न हों। राष्ट्रीय पाठशालाओं को अंग्रेजी सीखने की मजबूरी दूर कर देनी चाहिए और मजदूरी पर जोर देना चाहिए। शारीरिक श्रम के बिना गाव के काव्य का अनुभव नहीं हो सकता।

मराठी पाठशाला में पढ़ते समय हमारे पाठ्यक्रम में 'सृष्टि-ज्ञान' की एक पोथी नियत थी। 'सृष्टि-ज्ञान' की भी पोथी! इस पोथी के सृष्टि-ज्ञान के बल पर हम जग को अनाड़ी कहेंगे और गाव में जायगे भी तो उन अनाड़ी किसानों को 'सिखाने'। हमें गावों में जाना चाहिए पर मुख्यतः सीखने के लिए, सिखाने के लिए नहीं। हमारे ध्यान में यह बात नहीं आती कि गाववालों को सिखाने लायक हमारे पास दो-चार चीजें हुई भी तो उनसे सीखने की दस-बीस चीजें हैं। कारण, मदरसे के किताबी ज्ञान से हमारी निगाह भटक गई है। जब हमें मजदूरी का महत्व सिखाया जायगा तभी हमारी दृष्टि स्थिर और स्वच्छ होगी और गाव में काम करने का तरीका भी सूझने लगेगा।

पर वर्तमान पद्धति के अनुसार तालीम पाये हुए बहुतेरे लोग देश-सेवा के उम्मीदवार बनकर आते हैं। वे क्या करें? मेरी समझ में उनका उपयोग हम जरूर कर सकेंगे। पर इस बीच में उन्हें दो चीजें सीख लेनी होंगी—(१) अंग्रेजी विद्या की सिखाई हुई बातें भूल जाना, (२) शारीरिक श्रम की आदत डालना। ये दो बातें आ जाने पर वे काम कर सकेंगे। आज अपने देश को हरएक मजदूर की मजदूरी की जरूरत है। जितने लोग आज कम हैं।

: ७ :

फायदा क्या है ?

कहते है रेखागणित की रचना पहले-पहल यूक्लिड ने की। वह ग्रीस (यूनान) का रहने वाला था। उसके समय में ग्रीस के सब शिक्षितो के दिमाग राजनीति से भरे गए थे—या यो कहिए कि उनके दिमागो में राजनीति के पत्थर भरे गए थे। इस वजह से रेखागणित के कद्रदा दुर्लभ हो गए थे और यूक्लिड तो रेखागणित पर मुग्ध था। फिर भी जैसे आज चरखे पर मुग्ध एक मानव ने बहुतेरे राजनीति-विशारदो को चक्कर मे डाल दिया है, वैसे ही यूक्लिड ने बहुतेरे राजनीतिज्ञो को रेखाए खीचने में लगा दिया था। रोज यूक्लिड के घर पर रेखागणित के शिक्षार्थियो का जमघट लगता और वह उन्हें अपना आविष्कार कुशलतापूर्वक समझाता।

बहुतेरे राजनीतिज्ञो को यूक्लिड की ओर आकर्षित होते देखकर राजा के मन में आया, 'हम भी चल देखें, कुछ फायदा होगा।' उसने हफ्तेभर यूक्लिड के पास रेखागणित सीखा। अत मे उसने यूक्लिड से पूछा, "मुझे आज रेखागणित सीखते सात दिन हो गये, पर यह न समझ में आया कि इससे फायदा क्या है ?" यूक्लिड ने गभीरतापूर्वक अपने एक शिष्य से कहा, "सुनो जी, इन्हे चार आने रोज के हिसाब से सात दिन के पौने दो रुपये दे दो।" फिर राजा की ओर मुखातिब होकर कहा, "तुम्हारा इस हफ्ते का काम पूरा हो गया, कल से तुम कही और काम ढूढो।" क्या वह राजनीति-कुशल राजा झेपने के बजाय पौने दो रुपये पल्ले पडनेसे खुश हुआ होगा ? हम लोगो की मनोवृत्ति उस ग्रीक राजा की-सी बन गई है।

हर बात में फायदा देखने की बहुतो की आदत पड गई है। सूत कातने से क्या फायदा है, इससे लेकर स्वराज्य हासिल होने तक के फायदे के बारे में खचियो सवाल होते है। ये फायदावादी लोग अपनी फायदेवाली अक्ल को जरा और आगे हाक ले जाय तो तत्त्व-ज्ञान की ठेठ चोटी पर पहुच

जायगे। तत्वज्ञान के शिखर से ये लोग केवल एक प्रश्न के ही पीछे है और वह प्रश्न है—'फायदे से भी क्या फायदा है ?" एक लडका अपने बाप से कहता है, "बाबूजी, गाय-भैंस का फायदा तो समझ में आता है कि उनसे हमें रोज दूध पीने को मिलता है, लेकिन कहिए तो इन बाघ-बघरो और सापो के होने से क्या फायदा है ?" बाप जवाब देता है, "समूची सृष्टि मनुष्य के फायदे के लिए ही है, इस बेकार की गलतफहमी मे हम न रहे, यही इनका फायदा है।"

कालिदास ने एक जगह मनुष्य को 'उत्सव-प्रिय' कहा है। कालिदास का मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान गहरा था और इसीसे वह कवि कहलाने के अधिकारी हुए। सभी का अनुभव है कि मनुष्य को उत्सव प्रिय है, लेकिन क्यो प्रिय है ? पाठशाला के लडको को रविवार की छुट्टी क्यों प्यारी लगती है ? छ दिन दीवारो के घरे में घिरे रहने के बाद रविवार को ज़रा स्वच्छदता से सास ले पाते है, इस कारण। मनुष्य को उत्सव प्यारा क्यो है, इसका भी उत्तर ऐसा ही है। दु खो से दबा हुआ हृदय उत्सव के कारण हलका हो जाता है। हमारे घर अठारह बिस्वे दारिद्रय रहता है इसीसे ही लडके का व्याह रचने पर हम जेवनार में अठारह दूना छत्तीस व्यजन बनाना नही भूलते। साराश यह कि मनुष्य उत्सव प्रिय है, यह उसके जीवन के दु खमय होने का सबूत है। वैसे ही आज जो हमारी बुद्धि सिर्फ फायदावादी बन गई है यह हमारे राष्ट्र के महान् बौद्धिक दिवालियेपन का सबूत है।

हमेशा फायदे की शरण जाने की बान पड जाने से हमारे समाज में साहस का ही अभाव-सा हो रहा है। इसके कारण ब्राह्मण-वृत्ति, क्षात्र-वृत्ति और वैश्य-वृत्ति लुप्त-सी हो रही है। ब्राह्मण के मानी है साहस की साक्षात् प्रतिमा। मृत्यु के परले पार की मौज लेने के निमित्त जीवन की आहुति देने-वाला ब्राह्मण कहलायगा। फायदा कहेगा, "मौत के बाद की बात किसने देखी है ? हाथ का घडा पटककर बादल का भरोसा क्यो करें ?" फायदे के कोश में साहस शब्द मिलना ही सभव नही और मिल भी गया तो उसका अर्थ लिखा होगा 'मूर्खता' ? यदि फायदे के कोश में जीवन-गीता की सगति बिठाई

जाय तो फल-त्याग की अपेक्षा त्याग का फल क्या है, यह प्रश्न पैदा हो जायगा। ऐसी स्थिति में सच्ची ब्राह्मण-वृत्ति के लिए ठौर ही कहां रहेगा ? "त्याग करना, साहस करना, यह सब ठीक है।" फायदावादी कहता है—"पर क्या त्याग के लिए ही त्याग करने को कहते हो ?" "नही, त्याग के लिए त्याग नही कहता—फायदे के लिए त्याग सही।" "पर वह फायदा कब मिलना चाहिए, इसकी कोई मियाद बताइएगा या नही ?" "तुम्हारा कोई कायदा है कि फायदा कितने दिन में मिलना चाहिए ?" वह कहेगा— "त्याग के दो दिन पहले मिल जाय तो अच्छा है।" समर्थ गुरु रामदास ने 'लोगो के लालची स्वभाव का वर्णन करते हुए 'कार्यारंभ में देव (ईश्वर) का नाम लेना चाहिए', इस कथन का अर्थ फायदे के कोश के अनुसार किया—"कार्यारंभी देव, अर्थात् काम के शुरू में कुछ तो देव (दो)।" सारांश, फल ही देव है और वह काम करने के पूर्व मिलना चाहिए, इसका नाम है बाफायदा तत्त्वज्ञान ! जहा (बेचारे) देव (ईश्वर) की यह दशा है वहा ब्राह्मण-वृत्ति की बात ही कौन पूछता है ?

परलोक के लिए इस लोक को छोडनेवाला साहस तो सरासर पागलपन है, इसलिए उसका तो विचार ही नही करना है। इससे उतरकर हुई क्षात्र-वृत्ति उर्फ मिलावटी पागलपन। इह-लोक में बाल-बच्चे, अडोसी-पडोसी या देश की रक्षा के लिए मरने की तैयारी का नाम है क्षात्र-वृत्ति। पर 'आप मरे तो जग डूबा' यह फायदे का सूत्र लगाकर देखिए तो इस मिलावटी पागलपन का मतलब समझ मे आ जायगा। राष्ट्र की रक्षा क्यो, अथवा स्वराज्य क्यो ? मेरे फायदे के लिए। और जब मै ही चल बसा तो फिर स्वराज्य लेकर क्या होगा ? यह भावना आई कि क्षात्र-वृत्ति का साहस बिदा हुआ।

बाकी रही वैश्य-वृत्ति। पर वैश्य-वृत्ति में भी कुछ कम साहस नही चाहिए ! अंग्रेजो ने दुनियाभर में अपना रोजगार फैलाया तो बिना हिम्मत के नही फैलाया है। इग्लैण्ड में कपास की एक डोडी भी नही पैदा होती और आधे से अधिक हिंदुस्तान को कपडा देने की करामात कर दिखाई ! कैसे ?

इग्लैंड के इतिहास में समुद्री यात्राओ के प्रकरण साहसो से भरे पडे है। कभी अमेरिका की यात्रा तो कभी हिंदुस्तान का सफर, कभी रूस की परिक्रमा तो कभी सु-आशा अतरीप के दर्शन, कभी नील नदी के उद्गम की तलाश है, तो कभी उत्तरी ध्रुव के किनारे पहुचे है। यो अनेक सकटभरे साहसो के बाद ही अग्रजो का व्यापार सिद्ध हुआ है। यह सच है कि यह व्यापार अनेक राष्ट्रो की गुलामी का कारण हुआ। इसीसे आज वह उन्हीकी जड काट रहा है। पर जो हो, साहसी स्वभाव को तो सराहना ही होगा। हममें इस वैश्य-वृत्ति का साहस भी बहुत-कुछ नहीं दिखाई देता। कारण, फायदा नही दिखता।

जबतक तकलीफ सहन की तैयारी नही होती तबतक फायदा दिखने का ही नही। फायदे की इमारत नुक्सान की धूप में बनी है।

: ८ :

गीता-जयंती

कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर अर्जुन को गीता का उपदेश जिस दिन दिया गया वह मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी का दिन था, ऐसा विद्वानो ने निश्चित किया है। इसे सही मानकर चलने में कोई हर्ज नही है। इससे 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं'—महीनो में मार्गशीर्ष महीना मेरी विभूति है, इस वचन को विशेष अर्थ प्राप्त होता है। उस दिन हिंदुस्तानभर में सर्वत्र गीता का स्वाध्याय—प्रवचन—हो ऐसी सूचना की गई है।

सुझाव उचित ही है। पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि गीता-धर्म का प्रचार केवल प्रवचन और श्रवण से न होगा। गीता जबानी जमा-खर्च का शास्त्र नही, किंतु आचरण-शास्त्र है। उसका प्रचार आचरण बिना और किसी तरह भी नही होने का। गीता का धर्म खुला हुआ धर्म है। किसीके लिए उसके सुनने की मनाही नही। स्त्री, वैश्य, शूद्र, जिनमें वेद के गहरे कुए से पानी निकालने की शक्ति नही है, उनके लिए गीता के बहते झरने से मनमाना पानी

पाने की सुविधा सभव है। गीता-मैया के यहा छोटे-बडे का भेद नही है, बल्कि खरे-खोटे का भेद है। जिसकी तपश्चर्या करने की तैयारी नही है, जिसके हृदय में भक्ति का प्रवाह नही, सुनने की जिसकी तीव्र इच्छा नही, अथवा जिसकी बुद्धि में निर्मत्सर-भाव नही उसके सामने यह रहस्य भूलकर भी प्रकट मत करना—भगवान् ने अर्जुन को यह आदेश दिया है।

गीता के प्रचार के मानी है निष्काम कर्म का प्रचार, गीता के प्रचार के मानी है भक्ति का प्रचार, गीता के प्रचार के मानी है त्याग का प्रचार। यह प्रचार पहले अपनी आत्मा में होना चाहिए। जिस दिन उससे आत्मा परिपूर्ण होकर बहने लगेगी उस दिन वह दुनिया में फैले बिना न रहेगा। गीता पर आज तक हिंदुस्तान में प्रवचनो की कमी नही रही है। तरह-तरह की टीकाए भी लिखी गई है। गीता के तात्पर्य के सबध में समाचारपत्रो आदि में पुराने, नए शास्त्री-पडितो का वाद-विवाद भी काफी हुआ है। पर अनुभव से यह नही जान पडता कि इनसे साक्षात् निष्काम कर्म को कुछ उत्तेजन मिला हो। उलटा, उनसे रजोगुण का तो जोर बढ़ा है। मन-भर चर्चा की अपेक्षा कन-भर अर्चा श्रेष्ठ है। 'उठ भोर राम का चिंतन कीजे' इस वाक्य के लिखनेवाले का उद्देश्य यह नही है कि इसे घोखता बैठे, बल्कि यह है कि प्रात काल उठकर राम का चिंतन करे।

गीता का रहस्य गीता की पोथी में छिपा हुआ नही है। यह तो खुला हुआ है। भगवान् खुद ही कहते है कि मैंने उसे सूर्य से कहा है। यह इतना खुला है कि जिसके आखें हो वह उसे देख सकता है। और यदि छिपा हुआ ही है तो गीता की पोथी में तो निश्चय ही नही छिपा है। वह हृदय की गुफा में छिपा है। इस गुफा के मुह पर दुर्वर्तन के पत्थरो का ढेर लग गया है। उन्हे हटाकर अदर देखना चाहिए। उनके लिए मेहनत करनी पडेगी। गीता 'कुरु' क्षेत्र में कही गई है। सस्कृत में 'कुरु' का अर्थ है कर्म कर। कुरुक्षेत्र मानी कर्म की भूमि। इस कर्म की भूमिका पर गीता कही गई है। और वही उसे मेहनत के कानो से सुनना है।

बहुतेरो की समझ है कि मिशनरी लोग जैसे बाइबिल की प्रतिया मुफ्त

बाटते है, उसपर व्याख्यान देते फिरते है, कोई सुने न सुने, अपना राग अलापे जाते है, वैसे ही हम गीता के बारे में करे तो हमारे धर्म का प्रचार होगा। पर यह कोरा वहम है। मिशनरियो ने जो बहुत ही थोडा सा सच्चा धर्म-प्रचार किया है वह उनमें से कुछ सज्जनो की सेवा का फल है। बाकी का उनका धर्म-प्रचार दभ है। पर इस दभ से उनके काम को नुकसान पहुचा है। उनके अनु-करण से हमारा कोई लाभ नही होगा।

अत गीता-जयती के दिन गीता के प्रचार की बाह्य कल्पना पर जोर न देकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हाथ से कुछ-न-कुछ निष्काम सेवा बने। साथ ही, भक्तियुक्त चित्त से यथाशक्ति गीता का थोडा-सा पाठ करना भी उपयुक्त है।

: ९ :

पुराना रोग

अस्पृश्यता के हिमायती एक दलील यह पेश किया करते है कि यह पुरातन काल से चली आ रही है। पर यह बात दलील कैसे हो सकती है यह समझना कठिन है। माना कि 'पुरानी पूजी' की रक्षा करनी चाहिए। पर रक्षा मे बढाना, जीर्णोद्धार करना वगैरा कई बात शामिल है। अपना पुराना घर तो प्यारा लगता है। पर क्या उसमें के चूहो और छछूदरो के बिल भी प्यारे होगे? पट की सतान प्यारी होने से क्या पेट का रोग भी प्यारा होगा? और यह भी पुराना रोग? फिर उसका इलाज करायें क्या? जीर्णोद्धार में भी बाधा देनेवाली इस जीर्ण-भक्ति को क्या कहा जाय? साक्षात् उपनिषद् के ऋषियो ने यह स्पष्ट आज्ञा की है, "यान्यस्माक सुचरितानि। तानि त्वयो-पास्यानि। नो इतराणि।"—हमारे जो अच्छे काम हैं उनका अनुकरण करो, दूसरे कामो का नही। हम अपनी विवेक-बुद्धि से इस्तीफा देकर साफ तौर से उनकी आज्ञा-भग करते हैं और उल्टे मानते है कि हम उनकी आज्ञा पालते

हैं। यह आत्मवचना नही तो क्या हैं।

इसमे भी 'भूत को भागवत का आधार' मिलने वाली वात हो जान पर तो आत्मवचना की हद हो जाती है। कहते है, अस्पृश्यता के लिए आधार है, आदि शकराचार्य का ! अद्वैत के सिद्धात का प्रतिपादन करना जिनका जीवन कार्य था, अमगल 'भेदाभेद भ्रम' को उनका आधार ! कैसा अचरज हैं ! सता का आधार लेना ही हो तो उनके उत्तर-चरित्र से लिया जाता हैं, पूर्व-चरित्र मे से नही लिया जाता। शकराचार्य के चरित्र मे जो चाडाल की कथा है वह उनके पूर्व-चरित्र की है। उस आधार पर अगर अस्पृश्यता मान्य ठहराई जाय तो वाल्मीकि के (पूर्व-चरित्र के) आधार पर ब्रह्महत्या भी मान्य ठहरेगी ! और फिर अमान्य क्या रह जायगा ? कारण, साधु हुआ तो भी साधुत्व की योग्यता प्राप्त होने के पूर्व तो वह साधु नही ही होता। उस समय के उसके चरित्र में चाहे जो मिल जायगा । इसीलिए कहावत है, 'ऋषि का कुल मत देखो।" देखना ही हो तो उसका उत्तर-चरित्र देखना चाहिए और सो भी विवेक साथ रखकर। पूर्व चरित्र देखने से क्या मतलब ?

आचार्य चरित्र मे वर्णित चाडाल की कहानी यो है—आचार्य एक बार काशी जा रहे थे और उसी रास्ते पर एक चाडाल चला जा रहा था। उन्होने उसे हट जाने को कहा। तब चाडाल ने उनसे पूछा—"महाराज, अपने अन्नमय शरीर से मेरे अन्नमय शरीर को आप परे हटाना चाहते है या अपने में स्थित चैतन्य से मेरे अदर के चैतन्य को ? शरीर किसीका हो, वह स्पष्टत *'गदगी की गठरी' है। और आत्मा तो सर्वत्र एक और अत्यत शुद्ध है।* ऐसी स्थिति में अस्पृश्यता किसकी और किसके लिए ?" यह उसके प्रश्न का भाव हैं। पर इतना कहकर ही वह चाडाल चुप नही रहा। उसने फटकार और आगे बढाई—"गगा-जल के चद्रमा और हमारे हौज के चद्रमा में कुछ अतर है ? सोने के कलसे के आकाश मे और हमारे मिट्टी के घडे के आकाश मे कुछ फर्क है ? सर्वत्र आत्मा एक ही है न ? फिर यह ब्राह्मण और वह अत्यज का भेद-भ्रम आपने कहा से निकाला ?"—"**विप्रोऽय श्वपचोऽयमित्यपि महान् कोऽय विभेदभ्रम ।**" इतनी फटकार सुनकर आचार्य के कान ही

नहीं आंखें भी खुल गई और नम्रता से उसे नमस्कार करके बोले, "आप-सरीखा मनुष्य, फिर चाहे वह चांडाल हो या ब्राह्मण, मेरे लिए गुरु-स्थानीय है।"—"चांडालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम।" इस बातचीत से क्या अनुमान निकाला जाय यह पाठक ही तय कर लें।"

जिस रास्ते अपने बड़े-बड़े गये उस रास्ते हमें जाना चाहिए, यह मनु ने भी कहा है। पर वह 'सन्मार्ग' हो तो, यह उन्हींका बताया हुआ अपवाद है। वह श्लोक देकर यहीं समाप्त करता हूं।

येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः।
तेन यायात् 'सतां मार्गं' तेन गच्छन्न रिष्यति॥

: १० :

श्रवण और कीर्तन

प्रह्लाद ने नौ प्रकार की भक्ति कही है। उनमें भक्ति के दो प्रकार श्रवण और कीर्तन को बिल्कुल आरंभ में रखा है। भक्ति-मार्ग में श्रवण-कीर्तन की बड़ी महिमा गाई गई है। सुनी हुई वस्तु को बार-बार सुनना, कही हुई ही बात को बार-बार कहना भक्तों की रीति है। तीनों लोक में विचरना और बराबर बोलते रहना नारद-सरीखों का जन्म का धंधा है। उच्च वर्ग के लोगों में, मध्यम वर्ग के लोगों में, निचले वर्ग के लोगों में—तीनों लोकों में ही नारद-जी की फेरी होती है और बराबर कीर्तन चलता है। कीर्तन का विषय एक ही है। वही भक्तवत्सल प्रभु, वही पतित-पावन नाम। दूसरा विषय नहीं, दूसरी भाषा नहीं। वही गाना, वही रोना, वही कहना, वही चिल्लाना। न आलस्य है, न परेशानी, न थकावट है, न विश्राम, गाते गाते फिरना और फिरते-फिरते गाना।

जैसे नारद-सरीखों के लिए निरंतर गाना है वैसे धर्मराज-सरीखों के लिए सतत सुनना। महाभारत के वनपर्व और शांति पर्व ये दोनों विशाल पर्व

धर्मराज की श्रवण-भक्ति के फल हैं। वनवास मे रहते समय जो कोई ऋषि मिलने आता धर्मराज उसकी खुशामद करते। भक्ति-भाव से प्रणिपात करके जो सेवा बनती करते और जहा ऋषि ने कुशल-प्रश्न किया कि अपनी करुण-कहानी कहने का निमित्त बनाकर लगते प्रश्न पूछने, "महाराज, द्रौपदी पर आज जैसा सकट है, वैसा आज तक कभी किसीपर पडा था क्या ?" वह कहते, "क्या पूछते है यह आप ? बडो-बडो ने जो कष्ट सहे है उनके मुकाबले मे तो द्रौपदी का और आपका कष्ट किसी गिनती में नही है। सीता को, राम को, क्या कम कष्ट सहने पडे ?" धर्मराज फिर पूछते, "सो कैसे ?" इतना सहारा पा जाने के बाद ऋषि का व्याख्यान चलता। सारी राम-कहानी अथ से इति तक वह कहते और यह प्रेमयुक्त चित्त से सुनते। दूसरे किसी अवसर पर ऐसे ही कोई ऋषि आकर नल-दमयती का नाम ले लेते तो धर्मराज फौरन सवाल करते, "वह क्या कथा है ? " अब राम की सीता कौन थी और नल-दमयती की कथा क्या है, इतिहास का इतना अज्ञान धर्मराज में होना कैसे माना जा सकता है ? पर जानी हुई कथा भी सतो के मुख से सुनने मे एक विशेष स्वाद होता है। इसके सिवा वही वस्तु बराबर सुनने से विचार दृढ होता है। इसलिए धर्मराज ऐसे श्रवण-प्रेमी बन गये थे।

पर पुरानी बात जाने दीजिए। बिल्कुल इसी जमाने का उदाहरण लीजिए। नारद की तरह ही तुकाराम महाराज ने अतिम घडी तक कीर्तन-भक्ति की गूज जारी रखी। रोज रात को भगवान् के मदिर में जाकर कीर्तन करने का उनका क्रम आमरण अबाधित रूप से चला। लोग जाय, न जाय, भगवान् के सामने कीर्तन तो होगा ही। न सुननेवाले देवता को भी कीर्तन सुनाना जिनका व्रत हो गया था वे यदि सुननेवाले देवताओ को 'यथाधिकार' उपदेश करने का काम जोरो से करें तो इसमे आश्चर्य ही क्या ? समाज की बिल्कुल निचली श्रेणी से लेकर ठेठ ऊपर की श्रेणी तक सबको तुकाराम महाराज ने भगवान् का नाम सुनाया। घर में, मदिर में, घाट में, बाट में, सर्वत्र वही एक-सा सुर। पत्नी को, बेटी को, भाई को, जमाई को, गांव के मुखिया को, देश के शासक को, शिवाजी महाराज को, रामेश्वर भट्ट को, अबाजी

बुवा को—सबको तुकाराम महाराज ने हरि-नाम का एक ही उपदेश किया और आज भी उनकी अभग वाणी वही काम अव्याहत रूप से कर रही है।

इधर के इतिहास मे जैसे हमे तुकाराम-सरीखे 'सदा बोलते' भक्ति के स्रोत मिलते है वैसे ही उस स्रोत से नहर काटकर राष्ट्र के धर्म-क्षेत्र की बाग-बानी करनेवाले शिवाजी-जैसे श्रवण-दक्ष किसान भी देखने को मिलते है। पच्चीस-पच्चीस मील की दूरी से कीर्तन सुनने के लिए बराबर दौडते जाना उनका नियम था। और जो कुछ सुनना वह आलस-वालस झाडकर जी लगा-कर सुनना, और जैसा सुनना उसके अनुसार आचरण करने का बराबर प्रयत्न करना, इसीको श्रवण कहना चाहिए। शिवाजी महाराज ने सतत श्रवण किया। कोई सत्पुरुष मिल गए तो उनसे सुनने का मौका उन्होने सहसा हाथ से नही जाने दिया। तभी सब उद्योगो मे लगाने के बाद भी बच रही इतनी स्फूर्ति का खजाना उनके हृदय में जमा हो सका।

भक्ति-मार्ग में जिसे श्रवण-भक्ति और कीर्तन-भक्ति कहते है उसीको उपनिषद् मे स्वाध्याय और प्रवचन नाम दिया है। नाम भिन्न होने पर भी अर्थ एक ही है। स्वाध्याय के मानी है सीखना और प्रवचन के मानी सिखाना। इस सीखने और सिखाने पर उपनिषदो का उतना ही जोर है जितना श्रवण और कीर्तन पर सतो का। "सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद।"—सच बोल,धर्म पर चल और स्वाध्याय से मत चूक इन तीन सूत्रो मे ऋषि की सारी सिखावन आगई। स्वाध्याय और प्रवचन अर्थात् सीखने-सिखाने का महत्व ऋषियो की दृष्टि मे इतना ज्यादा था कि मनुष्य के लिए नित्य आचरण करने योग्य धर्म के तत्व बतलाते हुए उन्होने प्रत्येक तत्व के साथ स्वाध्याय प्रवचन का पुन-पुन उल्लेख किया है। 'सत्य और स्वाध्याय प्रवचन', 'तप और स्वाध्याय प्रवचन', 'इंद्रिय-दमन और स्वाध्याय-प्रवचन', 'मानसिक शाति और स्वाध्याय-प्रवचन', इस प्रकार प्रत्येक कर्तव्य को अलग-अलग कहकर हर बार ऋषि ने स्वाध्याय प्रवचन का हेतु और विषय तो बतलाया ही, साथ ही उसका महत्व भी बता दिया है।

हमारा स्वराज्य-आदोलन अत्यत व्यापक और गभीर आदोलन है। वह

एक ओर तीस करोड लोगो से—मानव-प्रजा के एक पचमाश है—सबध रखनेवाला होने के कारण विशाल है, और दूसरी ओर आत्मा का स्पर्श करनेवाला होने के कारण गभीर है।

तीस करोड आदमियो से ही इस आदोलन का सबध है, यह कहना भी सकुचित है। व्यापक-दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि सारे मानव-जगत की भवितव्यता इस आदोलन से सबधित है। पैर का नन्हा-सा काटा निकालना भी सिर्फ पाव का सवाल नही होता। सारे शरीर का हित-सबध उससे रहता है। फिर बिगडे हुए कलेजे को सभालने का सवाल सारे शरीर को सुधारने का सवाल कैसे नही है? अवश्य यह सारे शरीर का सवाल है और कोई आसान सवाल नही है, जीने-मरने का सवाल है—'यक्ष-प्रश्न' है। जवाब दो, नही तो जान दो, इस तरह का सवाल है। काल की दृष्टि से अत्यत प्राचीन, लोक-सख्या के हिसाब से जगत के पाचवे हिस्से के बराबर, विस्तार की दृष्टि से रूस को छोडकर पूरे यूरोप के बराबर, सस्कृति में उदार उच्च, अद्भुत, प्राकृतिक, सपत्ति में जगत के लिए ईर्ष्या की वस्तु, हिंदू और बौद्ध इन दो विश्वव्यापक धर्मो को जन्म देनेवाली और इस्लाम का विस्तार-क्षेत्र बनी हुई, वाङमय वैभव में अद्वितीय यह भारत-भूमि ब्रिटिश साम्राज्य के मुकुट का हीरा ही नही, बल्कि साम्राज्य की निगली हुई हीरे की कनी है—इसके जीवन-मरण पर दुनिया का भाग्य अवलबित है। इसलिए आज के हमारे स्वराज्य-आदोलन का सबध सिर्फ तीस करोड भारतीय जनता से ही न होकर सारे जगत से है। और दूसरी ओर यह आदोलन आत्मा को स्पर्श करने वाला है, यह कहने से उसकी सच्ची गभीरता की कल्पना नही होती। स्वराज्य का यह आदोलन आत्म-शुद्धि करनेवाला है। और आत्मशुद्धि का वेग साक्षात् परमात्मा से भेंट किये बगैर थमनेवाला नही। इसलिए इस आदोलन का घनफल परमात्मा से गुणित मनुष्य की दुनिया का क्षेत्र के गुणनफल के बराबर होगा।

आदोलन के इतने विशाल और गभीर होने की वजह से उसकी सिद्धि के लिए दो बातो की फिक्र रखना जरूरी है। एक तो उसे किसी खूटे से कसकर

बाध देना चाहिए। नही तो वह हाथ से निकल भागेगा और दूसरे उसके तत्वो का श्रवण-कीर्तन जारी रखना चाहिए।

इनमें आदोलन का खुटा अब निश्चित होगया है। चरखा हमारे सारे आदोलन का खूटा है। इसके चारो ओर आदोलन का चक्र फिराते रहना चाहिए। सुविधा और आवश्यकतानुसार कछुआ अपने अग कभी अपने मजबूत कवच के अदर खीच लेता है और कभी बाहर फैला देता है। वैसा ही चरखे का मजबूत खूटा कायम करके उसके आश्रय मे हम आदोलन के दूसरे अवयवो को कभी बाहर पसारते, कभी भीतर बटोरते चलेगे। आज हमने अपने आदोलन के अवयव भीतर खीच लिये हैं। मौका पडने पर फिर बाहर पसारेंगे। पर कभी इस चरखे के खूटे को छोडना नही होगा। ब्रह्म 'सर्वगत सदासम' है, इसलिए कोई यह नही कह सकता कि वह कब चकमा देकर निकल भागेगा। इसीलिए उस ब्रह्म को किसी मूर्ति मे कैद किये बिना भक्त का काम नही चलता। वैसे ही आदोलन विश्वव्यापी हुआ कि कुछ भी हाथ नही लगता। इसलिए उस आदोलन की चरखे में प्राण-प्रतिष्ठा है, और कुछ हो या न हो, इस मूर्ति की पूजा में कभी चूक नही होनी चाहिए।

और इतने ही महत्व की दूसरी बात है आदोलन के तत्त्वो के सबके कानो पर बराबर पडते रहने की व्यवस्था। वास्तव में ये दोनो बाते अलग-अलग नही हैं। एक ही बात के दो अग हैं। कीर्तन करना हो तो सामने मूर्ति का होना जरूरी है। देवता की मूर्ति के बिना कीर्तन नही हो सकता। गगा का पानी समुद्र की ओर जाता है तो तीर पर के वृक्षो का पोषण करता हुआ जाता है। पर जाता है समुद्र की ओर ही। वैसे ही कीर्तन की धारा बहती है भगवान के सम्मुख ही, सुननेवाले तीर पर के वृक्षो के समान है। स्वराज्य के आदोलन की स्थापना चरखे की मूर्ति में करनी और उस मूर्ति के सामने अखड कीर्तन की जयजयकार जारी रखना है। यह भजन-कार्य हरएक शहर मे, हरएक गाव में, हरएक घर में, शुरू होना चाहिए। कीर्तन की गुजार मे दुनिया को गुजा देना चाहिए। यह हम कर पाये तो यह पक्की बात है कि एक क्षण में राष्ट्र का कायापलट हो जाय।

: ११ :

रोज की प्रार्थना

ॐ असतो मा सदगमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृत गमय ॥

हे प्रभो, मुझे असत्य से सत्य में ले आ। अधकार मे से प्रकाश में ले जा। मृत्यु में से अमृत में ले जा।

इस मत्र मे हम कहा है, अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है और हमें कहा जाना है, अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है। हम असत्य में है, अधकार मे है, मृत्यु मे है। यह हमारा जीव-स्वरूप है। हमें सत्य की ओर जाना है, प्रकाश की ओर जाना है, अमृत्व को प्राप्त कर लेना है, यह हमारा शिवस्वरूप है।

दो बिंदु निश्चित हुए कि सुरेखा निश्चित हो जाती है। जीव और शिव ये दो बिंदु निश्चित हुए कि परमार्थ-मार्ग तैयार हो जाता है। मुक्त के लिए परमार्थ-मार्ग नही है, कारण उसका जीव-स्वरूप जाता रहा है। शिव-स्वरूप का एक ही विंदु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया। जड के लिए परमार्थ-मार्ग नही है। कारण, उसे शिवस्वरूप का भान नही है। जीव-स्वरूप का एक ही विंदु नजर के सामने है, इसलिए मार्ग आरभ ही नही होता। मार्ग बीचवाले लोगो के लिए है। बीचवाले लोग अर्थात् मुमुक्षु। उनके लिए मार्ग है। और उन्हींके लिए इस मत्रवाली प्रार्थना है।

'मुझे असत्य में से सत्य मे ले जा' ईश्वर से यह प्रार्थना करने के मानी हैं, 'असत्य में से सत्य की ओर जाने का बराबर मैं प्रयत्न करूगा'। इस तरह की एक प्रतिज्ञा-सी करना। प्रयत्नवाद की प्रतिज्ञा के बिना प्रार्थना का कोई अर्थ ही नही रहता। यदि मै प्रयत्न नही करता और चुप बैठ जाता हू, अथवा विरुद्ध दिशा में जाता हू, और जबान से 'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' यह प्रार्थना

किया करता हू, तो इससे क्या मिलने का ? नागपुर से कलकत्ते की ओर जानेवाली गाडी मे बैठकर हम 'हे प्रभो, मुझे बबई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करें, तो उसका क्या फायदा होना है ? असत्य से सत्य की ओर ले चलने की प्रार्थना करनी हो तो असत्य से सत्य की ओर जाने का प्रयत्न भी करना चाहिए। प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नही हो सकती। इसलिए ऐसी प्रार्थना करने मे यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना रुख असत्य से सत्य की ओर करूगा और अपनी शक्तिभर सत्य की ओर जाने का भरपूर प्रयत्न करूगा।

प्रयत्न करना है तो फिर प्रार्थना क्यों ? प्रयत्न करना है, इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए। मै प्रयत्न करनेवाला हू। पर फल मेरी मुट्ठी में थोडे ही है। फल तो ईश्वर की इच्छा पर अवलंबित है। मै प्रयत्न करके भी कितना करूगा ? मेरी शक्ति कितनी अल्प है ? ईश्वर की सहायता के बिना मै अकेला क्या कर सकता हू ? मै सत्य की ओर अपने कदम बढाता रहू तो भी ईश्वर की कृपा के बिना मैं मजिल पर नही पहुच सकता। मैं रास्ता काटने का प्रयत्न तो करता हू पर अत में मैं रास्ता काटूगा कि बीच मे मेरे पैर ही कट जानेवाले है, यह कौन कह सकता है ? इसलिए अपने ही बल-बूते मैं मजिल पर पहुच जाऊगा, यह घमड फिजूल है। काम का अधिकार मेरा है, पर फल ईश्वर के हाथ में है। इसलिए प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर की प्रार्थना आवश्यक है। प्रार्थना के सयोग से हमें बल मिलता है। यो कहो न कि अपने पास का सपूर्ण बल काम में लाकर और बल की ईश्वर से माग करना यही प्रार्थना का मतलब है।

प्रार्थना में दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय है। दैववाद में पुरुषार्थ को अवकाश नहीं है, इसमें वह बावला है। प्रयत्नवाद में निरहकार वृत्ति नहीं है, इससे वह घमडी है। फलत दोनों ग्रहण नही किये जा सकते। किंतु दोनों को छोडा भी नही जा सकता। कारण, दैववाद में जो नम्रता है वह जरूरी है। प्रयत्नवाद में जो पराक्रम है वह भी आवश्यक है। प्रार्थना इतना मेल साधती है। 'मुक्तसगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वित' गीता में सात्त्विक कर्ता का यह

जो लक्षण कहा गया है उसमे प्रार्थना का रहस्य है। प्रार्थना मानी अहकार-रहित प्रयत्न। साराश, 'मुझे असत्य मे से सत्य मे ले जा' इस प्रार्थना का सपूर्ण अर्थ होगा कि 'मै असत्य में से सत्य की ओर जाने का, अहकार छोडकर, उत्साहपूर्वक सतत प्रयत्न करूगा।' यह अर्थ ध्यान मे रखकर हमे रोज प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि—

हे प्रभो, तू मुझे असत्य मे से सत्य में ले जा। अधकार में मे प्रकाश मे ले जा। मृत्यु में से अमृत में ले जा।

: १२ :

तुलसीकृत रामायण

तुलसीदासजी की रामायण का मारे हिंदुस्तान के साहित्यिक इतिहास मे एक विशेष स्थान है। हिंदी राष्ट्रभाषा है और यह उसका सर्वात्तम ग्रथ है, अत राष्ट्रीय दृष्टि से भी उसका स्थान अद्वितीय है ही। साथ-साथ वह हिंदुस्तान के सात-आठ करोड लोगो के लिए वेद-तुल्य प्रमाण मान्य है, नित्य-परिचित और धर्म-जागृति का एकमात्र आधार है, इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी वह बेजोड कही जा सकती है। और राम-भक्ति का प्रचार करने मे **'शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्'** इस न्याय से वह अपने गुरु वाल्मीकि-रामायण को भी पराजय का आनद देनेवाली है, इसलिए भक्तिमार्गीय दृष्टि से भी यह ग्रथ अपना सानी नही रखता। तीनो दृष्टिया एकत्र करके विचार करने पर अन्वयालकार का उदाहरण हो जाता है कि राम-रावण-युद्ध जिस तरह राम-रावण के युद्ध-जैसा था, उसी तरह तुलसीकृत रामायण तुलसीकृत रामायण-जैसी ही है।

एक तो रामायण का अर्थ ही है मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचद्र का चरित्र तिसपर तुलसीदास ने उसे विशेष मर्यादा से लिखा है। इसीलिए यह ग्रथ सुकुमार बालको के हाथ में देने लायक निर्दोष तथा पवित्र हुआ है। इसमें सब रसो का वर्णन नैतिक मर्यादा का ध्यान रखकर किया गया है। स्वय भक्ति पर

भी नीति की मर्यादा लगा दी है। इसीलिए सूरदास की जैसी उद्दाम भक्ति इसमें नही मिलेगी। तुलसी की भक्ति सयमित है। इस सयमित भक्ति और उद्दाम भक्ति का अतर मूल राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का अतर है। साथ ही, तुलसीदासजी का अपना भी कुछ है ही।

तुलसीकृत रामायण का वाल्मीकि-रामायण की अपेक्षा अध्यात्म-रामायण से अधिक सबध है। अधिकाश वर्णनो पर, खासकर भक्ति के उद्गारो पर, भागवत की छाप पडी हुई है, गीता की छाप तो है ही। महाराष्ट्र के भागवत-धर्मीय सतो के ग्रथो से जिनका परिचय है उन्हे तुलसीकृत रामायण कोई नई चीज नही मालूम होगी। वही नीति, वही निर्मल भक्ति, वही सयम। कृष्ण-सखा सुदामा को जिस तरह अपने गाव मे वापस आने पर मालूम हुआ कि कही मैं फिर से द्वारकापुरी मे लौटकर तो नही आ गया, उसी तरह तुलसीदासजी की रामायण पढते समय महाराष्ट्रीय सत-समाज के वचनों से परिचित पाठको को 'हम कही अपनी पूर्व-परिचित सत-वाणी तो नही पढ रहे है', ऐसी शका हो सकती है, उसमें भी एकनाथजी महाराज की याद विशेष रूप से आती है। एकनाथ के भागवत और तुलसीदासजी की रामायण इन दोनो में विशेष विचार-साम्य है। एकनाथ ने भी रामायण लिखी है, पर उनकी आत्मा भागवत मे उतरी है। एकनाथ के भागवत ने ही रानाडे को पागल बना दिया। एकनाथ कृष्ण-भक्त थे तो तुलसीदास रामभक्त। एकनाथ ने कृष्ण-भक्ति की मस्ती को पचा लिया, यह उनकी विशेषता है। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ ये सभी कृष्णभक्त है और ऐसा होते हुए भी अत्यत मर्यादाशील। इस कारण इस विषय मे उन्हें तुलसीदासजी से दो नवर अधिक दे देना अनुचित न होगा।

तुलसीदासजी की मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकाड में है। उसी काड मे उन्होंने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्याकाड में भरत की भूमिका अद्भुत चित्रित हुई है। भरत तुलसीदास की ध्यानमूर्ति थे। इस ध्यानमूर्ति को चुनने मे उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनो ही राम के अनन्य-भक्त थे,लेकिन एक को राम की सगति का लाभ हुआ और दूसरे को वियोग

था। पर वियोग ही भाग्यरूप हो उठा। इसलिए कि वियोग में ही भरत ने संगति का अनुभव पाया। हमारे नसीब में परमात्मा से वियोग में रहकर ही काम करना लिखा है। लक्ष्मण के जैसा संगति का भाग्य हमारा कहां! इसलिए वियोग को भाग्यरूप में किस तरह बदल सकते हैं इसे समझने में भरत का आदर्श ही हमारे लिए उपयोगी है।

शारीरिक संगति की अपेक्षा मानसिक संगति का महत्व अधिक है। शरीर से समीप रहकर भी मनुष्य मन से दूर रह सकता है। दिन-रात नदी का पानी ओढ़े सोया हुआ पत्थर गीलेपन से बिल्कुल अलिप्त रह सकता है। उल्टे शारीरिक वियोग में ही मानसिक संयोग हो सकता है, उसमें संयम की परीक्षा है। भक्ति की तीव्रता वियोग से बढ़ती ही है। आनंद की दृष्टि से देखें तो साक्षात् स्वराज्य की अपेक्षा स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्न का आनंद कुछ और ही है। सिर्फ अनुभव करने की रसिकता हममें होनी चाहिए। भक्तों में यह रसिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नहीं मांगते, वे भक्ति में ही खुश रहते हैं। भक्ति का अर्थ बाहर का वियोग स्वीकार कर अंदर से एक हो जाना है। यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नहीं परम भाग्य है—मुक्ति से भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरत का यह भाग्य था। लक्ष्मण का भाग्य भी बड़ा था। पर एक तो हमारी किस्मत में वह नहीं और फिर कुछ भी कहिए, वह है भी कुछ घटिया ही। इसका कारण अंगूर खट्टे हैं, सिर्फ यही नहीं है, किंतु उपवास मीठा है, यह भी है। भरत के भाग्य में उपवास की मिठास है।

लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' में संन्यासी को लक्ष्य कर यह कटाक्ष किया है कि 'संन्यासी को भी मोक्ष का लोभ तो होता ही है।' पर इस ताने को व्यर्थ कर देने की युक्ति भी हमारे साधु-संतों ने ढूंढ निकाली है। उन्होंने लोभ को ही संन्यास दे दिया। खुद तुलसीदासजी भक्ति की नमक-रोटी से खुश हैं, मुक्ति की ज्योनार के प्रति उन्होंने अरुचि दिखाई है। ज्ञानेश्वर ने तो **"भोग-मोक्ष निंवलोण। पायातळीं"** *(भोग और मोक्ष पैर तले पड़े हुए उतारा जैसे हैं)*, **"मोक्षाची सोडोवाधी करी"** (मोक्ष की पोटली को बांधती छोड़ती है अर्थात् मोक्ष जिसके हाथ की चीज है), **"चहू पुरुषार्थां शिरीं। भक्ति जैसी"**

(चारों पुरुषार्थो से श्रेष्ठ भक्ति जैसी) आदि वचनो मे मुक्ति को भक्ति की टहलुई बनाया है। और तुकाराम से तो **"नको ब्रह्मज्ञान आत्मस्थिति भाव"** (मुझे न ब्रह्म-ज्ञान चाहिए और न आत्म-साक्षात्कार) कहकर मुक्ति से इस्तीफा ही दे दिया है। **"मुक्तीवर भक्ति"** (मुक्ति से भक्ति बढकर है) इस भाव को एकनाथ ने अपनी रचनाओ मे दस-पाच बार प्रकट किया है। इधर गुजरात मे नरसिंह मेहता ने भी **"हरिना जन तो मुक्ति न मागे"** (हरि का जन मुक्ति नही मागता) ही गाया है। इस प्रकार अतत सभी भागवत-धर्मी वैष्णवो की परपरा मुक्ति के लोभ से सोलहो आने मुक्त है। इस परंपरा का उद्गम भक्त शिरोमणि प्रह्लाद से हुआ है। **"नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेक:"**—इन दीन जनो को छोडकर मुझे अकेले मुक्त होने की इच्छा नही है, यह खरा जवाब उन्होंने नृसिंह भगवान् को दिया। इस कलियुग मे श्रौत-स्मार्त्त संन्यास मार्ग की स्थापना करनेवाले शकराचार्य ने भी **"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति य:"** गीता के इस श्लोक का भाष्य करते हुए **"संगंत्यक्त्वा"** का अर्थ अपने पल्ले से डालकर **"मोक्षेऽपिफले संगंत्यक्त्वा"**—"मोक्ष की भी आसक्ति का त्याग कर", ये शब्द किया है।

तुलसीदासजी के भरत इस भक्ति-भाग्य की मूर्ति है। उनका मागना तो देखिए—

धरम न अरथ न काम-रुचि
गति न चहउं निरबान।
जनम-जनम रति राम-पद
यह बरदान न आन॥

यो तिलकजी के ताने को संतो ने एकदम निकम्मा कर दिया।

भरत में वियोग-भक्ति का उत्कर्ष दिखाई देता है। इसीसे तुलसीदासजी के वह आदर्श हुए। भरत ने सेवा-धर्म को खूब निबाहा। नैतिक मर्यादा का संपूर्ण पालन किया, भगवान् का कभी विस्मरण नही होने दिया। आज्ञा समझकर प्रजा का पालन किया। पर उसका श्रेय राम के चरणो में अर्पण कर स्वयं निर्लिप्त रहे। नगर मे रहकर वनवास का अनुभव किया। वैराग्य-युक्त

चित्त से यम-नियमादि विषम व्रतों का पालन कर आत्मा को देह से दूर रखने वाले देह के पर्दे को झीना कर दिया। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे भरत न जन्मे होते तो मुझ-जैसे पतित को राम-सम्मुख कौन करता —

सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम-जम-नियम-सम-दम विषम-व्रत आचरत को!
दुख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषन सुजस-मिस अपहरत को!
कलिकाल तुलसी से सठहि हठि राम-सनमुख करत को!!

रामायण में राम-भक्त भरत, महाभारत में शकुंतला का पराक्रमी भरत और भागवत में जीवन्मुक्त जड भरत ये तीन भरत प्राचीन भारत में विख्यात हैं। हिंदुस्तान को 'भारत' वर्ष संज्ञा शकुंतला के वीर भरत से मिली, ऐसा इतिहासज्ञों का मत है, एकनाथ ने ज्ञानी जडभरत से यह मिली, ऐसा माना है। संभव है, तुलसीदासजी को लगता हो कि यह राम-भक्त भरत से मिली है। पर चाहे जो हो, आज के वियोगी भारत के लिए भरत की वियोग-भक्ति का आदर्श सब प्रकार से अनुकरणीय है। तुलसीदासजी ने वह आदर्श अपने पवित्र अनुभव से उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है। तदनुसार आचरण करना हमारा काम है।

: १३ :

कौटुंबिक पाठशाला

विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार शून्य बन जाता है। मनुष्य घर में जीता है और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओर से घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुंब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुंबिक पाठशाला

स्थापित करे। इस लेख मे शालीन कुटुंब के विषय में हमे नही विचारना है, कौटुबिक पाठशाला के सबध में ही थोडा दिग्दर्शन कराना है। छात्रालय अथवा शिक्षको के घर को शिक्षा की बुनियाद मानकर उसपर शिक्षण की इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुबिक शाला है। ऐसी कौटुबिक शाला के जीवनक्रम के सबध मे—पाठ्यक्रम को अलग रखकर—कुछ सूचनाए इस लेख में करनी है। वे इस प्रकार है—

(१) ईश्वर-निष्ठा ससार मे सार वस्तु है। इसलिए नित्य के कार्यक्रम मे दोनो वेला सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थना का स्वरूप सत-वचनो की सहायता से ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासना मे एक भाग नित्य के किसी निश्चित पाठ को देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधेन' यह नीति हो। एक प्रार्थना रात को सोने के पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठने पर।

(२) आहार-शुद्धि का चित्त-शुद्धि से निकट सबध है, इसलिए आहार सात्विक रखना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले हुए पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थों का त्याग करना चाहिए। दूध और दूध से बने पदार्थों का मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

(३) ब्राह्मण से या दूसरे किसी रसोइये से रसोई नही बनवानी चाहिए। रसोई की शिक्षा शिक्षा का एक अग है। सार्वजनिक काम करनेवाले के लिए रसोई का ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी सबको वह आनी चाहिए। स्वावलबन का वह एक अग है।

(४) कौटुबिक पाठशाला को अपने पायखाने का काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ किसीसे छूतछात न मानना ही नही, किसी भी समाजोपयोगी काम से नफरत न करना भी है। पायखाना साफ करना अत्यज का काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छता की सच्ची तालीम भी इसमे है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखने के ढग का अभ्यास है।

(५) *अस्पृश्यो-सहित सबको मदरसे में स्थान मिलना चाहिए, यह तो*

है ही, पर 'कौटुबिक' पाठशाला मे पक्ति-भेद रखना भी सभव नही । आहार-शुद्धि का नियम रहना काफी है।

(६) स्नानादि प्रात कर्म सवेरे ही कर डालने का नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य-भेद से अपवाद रखा जा सकता है । स्नान ठडे पानी से करना चाहिए।

(७) प्रात कर्मो की तरह सोने के पहले के 'सायकर्म' भी जरूर होने चाहिए। सोने के पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायकर्म का गाढ निद्रा और ब्रह्मचर्य से सबध है। खुली हवा मे अलग-अलग सोने का नियम होना चाहिए।

(८) किताबी शिक्षा के बजाय उद्योग पर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घटे तो उद्योग मे देने ही चाहिए । इसके बिना अध्ययन तेजस्वी नही होने का । 'कर्मातिशेषेण' अर्थात् काम करके बचे हुए समय में वेदाध्ययन करना श्रुति का विधान है।

(९) शरीर को तीन घटे उद्योग मे लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य स्वत करने का नियम रखने के बाद दोनो समय व्यायाम करने की जरूरत नही है। फिर भी एक वेला अपनी-अपनी जरूरत के मुताबिक खुली हवा में खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

(१०) कातने को राष्ट्रीय धर्म की प्रार्थना की भाति नित्य कर्म म गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योग के समय के अलावा कम-से-कम आधा घटा वक्त देना चाहिए। इस आधे घटे मे तकली का उपयोग करने से भी काम चल जायगा। कातने का नित्य कर्म यात्रा में या कही भी छोडे बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकली पर कातना तो आना ही चाहिए।

(११) कपडे में खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजें भी जहातक सभव हो स्वदेशी ही लेनी चाहिए।

(१२) सेवा के सिवा दूसरे किसी भी काम के लिए रात को जागना नही चाहिए। बीमार आदमी की सेवा इसमें अपवाद है । पर मौज के लिए या

ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी रात का जागरण निषिद्ध है। नीद के लिए ढाई पहर रखने चाहिए।

(१३) रात में भोजन नही रखना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा तीनों दृष्टियो से इस नियम की आवश्यकता है।

(१४) प्रचलित विषयों में सपूर्ण जागृति रखकर वातावरण को निश्चल रखना चाहिए।

प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कौटुबिक शाला के जीवन-क्रम के सबध में चौदह सूचनाए की गई हैं। इनमें किताबी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के बारे में ब्यौरा नही दिया गया है। उसपर लिखना हो तो अलग लिखना पडेगा। राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में जिन्हें 'रस' है वे इन सूचनाओ पर विचार करें और शका, सूचना वा आक्षेप जो सूझें, सूचित करे।

: १४ :

जीवन और शिक्षण

आज की विचित्र शिक्षण-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकडे हो जाते हैं। आयु के पहले पद्रह-बीस बरसो में आदमी जीने के झझट में न पडकर सिर्फ शिक्षा को प्राप्त करे और बाद को शिक्षण को वस्ते में लपेट रख कर मरने तक जिये।

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथभर लबाई का बालक साढे तीन हाथ का कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरो के ध्यान में भी नही आता। शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश, क्रम-क्रम से थोडी-थोडी होती है। इसलिए उनके होने का भान तक नही होता। यह नही होता कि आज रात को सोये तब दो फुट ऊचाई थी और सवेरे उठकर देखा तो ढाई फुट होगई। आज की शिक्षण-पद्धति का तो यह ढग है

कि अमुक वर्ष के बिल्कुल आखिरी दिन तक मनुष्य जीवन के विषय में पूर्ण रूप से गैर-जिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नही, यही नही, उसे गैर-जिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। सपूर्ण गैर-जिम्मेदारी से सपूर्ण जिम्मेदारी मे कूदना तो एक हनुमान-कूद ही हुई। ऐसी हनुमान-कूद की कोशिश में हाथ-पैर टूट जाय तो क्या अचरज।

भगवान् ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता कही। पहले भगवद्गीता के 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नही ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवन की तैयारी का ज्ञान कहते है उसे जीवन से बिल्कुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञान से मौत की ही तैयारी होती है।

बीस बरस का उत्साही युवक अध्ययन में मग्न है। तरह-तरह के ऊचे विचारो के महल बना रहा है। "मै शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूगा। मै वाल्मीकि-सा कवि बनूगा। मै न्यूटन की तरह खोज करूगा।" एक, दो, चार, जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करने का भाग्य भी थोडो को ही मिलता है। पर जिनको मिलता है उनकी ही बात लेते है। इन कल्पनाओ का आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकडी के फेर में पडा, जब पेट का प्रश्न सामने आया, तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवन की जिम्मेदारी क्या चीज है, आज तक इसकी बिल्कुल ही कल्पना नही थी और अब तो पहाड सामने खडा हो गया। फिर क्या करता है? फिर पेट के लिए बन-बन फिरनेवाले शिवाजी, करुण-गीत गानेवाले वाल्मीकि, और कभी नौकरी की तो कभी औरत की, कभी लडकी के लिए वर की और अत में श्मशान की शोध करनेवाले न्यूटन—इस प्रकार की भूमिकाए लेकर अपनी कल्पनाओ का समाधान करता है। यह हनुमान-कूद का फल है।

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से पूछा—"क्यो जी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कालेज में जाऊंगा।"

"ठीक है। कालेज में तो जाओगे। लेकिन उसके बाद ? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर अभीसे उसका विचार क्यो किया जाय ? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थी से वही सवाल पूछा।

"अभी तक कोई विचार नही हुआ।"

"विचार हुआ नहीं यानी ? लेकिन विचार किया था क्या ?"

"नही साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें ? कुछ सूझता नही। पर अभी डेढ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा' ये वे ही शब्द है जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहले की आवाज में बेफिक्री थी। आज की आवाज मे थोडी चिंता की झलक थी।

फिर डेढ वर्ष बाद उसी प्रश्नकर्ता ने उसी विद्यार्थी से—अथवा कहो अब 'गृहस्थ' से वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिंताग्रस्त था। आवाज की बेफिक्री बिल्कुल गायब थी। 'ततः किं ?' 'ततः किं ?' 'ततः किम् ?' यह शंकराचार्यजी का पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमाग में कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब था नही।

आज की मौत कल पर ढकेलते-टकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पडता है। यह प्रसग उनपर नहीं आता जो 'मरण के पहले ही' मर लेते है, जो अपना मरण आखों से देखते है। जो मरण का 'अगाऊ' अनुभव लेते है उनका मरण टलता है और जो मरण के अगाऊ अनुभव से जी चुराते है, खिचते है, उनकी छाती पर मरण आ पडता है। सामने खभा है, यह बात अधे को उस खभे का छाती में प्रत्यक्ष धक्का लगने के बाद मालूम होती है। आखवाले को यह खभा पहले ही दिखाई देता है। अत उसका धक्का उसकी छाती को नही लगता।

जिंदगी की जिम्मेदारी कोई निरी मौत नहीं है और मौत ही कौन ऐसी बडी 'मौत' है ? अनुभव के अभाव से यह सारा 'हौआ' है। जीवन और

मरण दोनो आनद की वस्तु होनी चाहिए। कारण, अपने परमप्रिय पिता ने—ईश्वर ने—वह हमें दिये हैं। ईश्वर ने जीवन, दु खमय नही रचा। पर हमें जीवन जीना आना चाहिए। कौन पिता है जो अपने बच्चो के लिए परेशानी की जिंदगी चाहेगा? तिसपर ईश्वर के प्रेम और करुणा का कोई पार है? वह अपने लाडले बच्चो के लिए सुखमय जीवन निर्माण करेगा कि परेशानी और झझटो से भरा जीवन रचेगा? कल्पना की क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिये न। हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है उसके उतनी ही सुलभता से मिलने का इतजाम ईश्वर की ओर से है। पानी से हवा ज्यादा जरूरी है तो ईश्वर ने पानी से हवा को अधिक सुलभ किया है। जहा नाक है, वहा हवा मौजूद है। पानी से अन्न की जरूरत कम होने की वजह से पानी प्राप्त करने की बनिस्बत अन्न प्राप्त करने में अधिक परिश्रम करना पडता है। 'आत्मा' सबसे अधिक महत्व की वस्तु होने के कारण वह हरएक को हमेशा के लिए दे डाली गई है। ईश्वर की ऐसी प्रेम-पूर्ण योजना है। इसका खयाल न करके हम निकम्मे जड जवाहरात—जमा करने—जितने जड बन जाय तो तकलीफ हमें होगी ही। पर यह हमारी जडता का दोष है, ईश्वर का नही।

जिंदगी की जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नही है। वह आनद से ओत-प्रोत है, बशर्ते कि ईश्वर की रची हुई जीवन की सरल योजना को ध्यान में रखते हुए अयुक्त वासनाओ को दबाकर रखा जाय। पर जैसे वह आनद से भरी हुई वस्तु है वैसे हो शिक्षा से भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिंदगी की जिम्मेदारी से वचित हुआ वह सारे शिक्षण का फल गवा बैठा। बहुतो की धारणा है कि बचपन से ही जिंदगी की जिम्मेदारी का खयाल अगर बच्चा में पैदा हो जाय तो जीवन कुम्हला जायगा। पर जिंदगी की जिम्मेदारी का भान होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो तो फिर यह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नही है। पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षण-शास्त्रियो की भी है और इसका मुख्य कारण है जीवन के विषय में दुष्ट कल्पना। जीवन मानो कलह, यह मान लेना। ईसप नीति के अरसिक माने हुए, परतु वास्तविक, मर्म को समझनेवाले मुर्गे से सीख लेकर ज्वार के दानो को

अपेक्षा मोतियो को मान देना छोड दिया तो जीवन के अदर का कलह जाता रहेगा और जीवन मे सहकार दाखिल हो जायगा। बदर के हाथ मे मोतियो की माला (मरकट भूषण अग) यह कहावत जिन्होने गढी है उन्होने मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध न करके मनुष्य के पूर्वजो के सबध में डार्विन का सिद्धात ही सिद्ध किया है। 'हनुमान के हाथ में मोतियो की माला' वाली कहावत जिन्होने रची वे अपने मनुष्यत्व के प्रति वफादार रहे।

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चो को उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर अगर जीने-लायक वस्तु हो तो लडको को उसमें जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हें शिक्षण नही मिलने का। भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्र में कही गई वैसे शिक्षा जीवन-क्षेत्र में देनी चाहिए—दी जा सकती है। 'दी जा सकती है', यह भाषा भी ठीक नही है—वही वह मिल सकती है।

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्त्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसीका नाम शिक्षा है। बच्चो को खेत में काम करने दो। वहा कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान की या दूसरी जिस चीज की जरूरत हो उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चो को रसोई बनाने दो। उसमें जहा जरूरत हो रसायनशास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो।' व्यवहार में काम करनेवाले आदमी को भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चो को भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चो के आसपास जरूरत के अनुसार मार्ग-दर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हो। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नही होगे। वे भी 'जीवन जीनेवाले' हो, जैसे व्यवहार में आदमी जीवन जीते है। अतर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालो का जीवन विचारमय होगा, उसमें के विचार मौके पर बच्चों को समझाकर बताने की योग्यता उनमे होगी। पर 'शिक्षक' नाम के किसी स्वतत्र धधे की जरूरत नही है, न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्य-कोटि मे बाहर के किसी प्राणी की। और 'क्या करते हो' पूछने पर

प्राथमिक महत्त्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षण में स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षणशास्त्रियों का इसपर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षण की दृष्टि से ही दाखिल किये जायं। पेट भरने की दृष्टि से नहीं। आज 'पेट भरने का' जो विकृत अर्थ प्रचलित है, उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हद तक वह ठीक है। पर मनुष्य को 'पेट' देने में ईश्वर का हेतु है। ईमानदारी से 'पेट भरना' अगर मनुष्य साध ले तो समाज के बहुतेरे दुःख और पातक नष्ट ही हो जाय। इसीसे मनु ने **'योऽर्थशुचिः स हि शुचिः'**—जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है, वही पवित्र है, यह यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। **'सर्वेषामविरोधेन'** कैसे जियें, इस शिक्षण में सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोध वृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यह कर्तव्य करने से ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्रा के लिए उपयोगी परिश्रम करने को ही शरीर-शास्त्रकारों ने **'यज्ञ'** नाम दिया है। **'उदर भरण नोहे, जाणिजे यज्ञ कर्म'**—यह उदर-भरण नहीं है, इससे यज्ञ कर्म जान। वामन पंडित का यह वचन प्रसिद्ध है। अतः मैं शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हूं, यह भावना उचित है। शरीर-यात्रा से मतलब अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की यात्रा न समझकर समाज-शरीर की यात्रा, यह उदार अर्थ मन में बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा मानी समाज की सेवा और इसीलिए ईश्वर की पूजा, इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और इस ईश्वर-सेवा में देह खपाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेक में होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चों में भी होनी चाहिए। इसके लिए उनको शक्तिभर उन्हें जीवन में भाग लेने का मौका देना चाहिए और जीवन को मुख्य केंद्र बनाकर उसके आसपास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षण की रचना करनी चाहिए।

इससे जीवन के दो खंड न होंगे। जीवन की जिम्मेदारी अचानक आ पड़ने से उत्पन्न होनेवाली अड़चन न पैदा होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी 'पर शिक्षण का मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी।

: १५ :

केवल शिक्षण

एक देशसेवाभिलाषी से किसीने पूछा—"कहिए, अपनी समझ में आप क्या काम अच्छा कर सकते हैं ?"

उसने उत्तर दिया—"मेरा खयाल है, मैं केवल शिक्षण का कार्य कर सकता हू और उसीका शौक है।"

"यह तो ठीक है। अक्सर आदमी को जो आता है, मजबूरन उसका उसे शौक होता ही है, पर यह कहिए कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नही ?"

"जी नही। दूसरा कोई काम करना नही आयगा। सिर्फ सिखा सकूगा। और विश्वास है कि यह काम तो अच्छा कर सकूगा।"

"हा, हा, अच्छा सिखाने में क्या शक है; पर अच्छा क्या सिखा सकते हैं ? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे ?"

"नही, वह नही सिखा सकता।"

"तब, सिलाई, ? रगाई ? बढ़ईगीरी ?"

"न, यह सबकुछ नही।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरह घरेल काम सिखा सकेंगे ?"

"नही, काम के नाम से तो मैंने कुछ किया ही नही। मैं केवल शिक्षक. "

"भाई जो पूछा जाता है उसीमें 'नही ····नही' कहते हो और कहे जाते हो 'केवल' शिक्षण का काम कर सकता हू। इसके मानी क्या है ? बागबानी सिखा सकियेगा ?"

देशसेवाभिलाषी ने जरा चिढकर कहा—"यह क्या पूछ रहे हैं ? मैंने शुरू में ही तो कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नही आता। मैं साहित्य पढा सकता हूं।"

प्रश्नकर्त्ता ने जरा मजाक से कहा—"ठीक कहा। अबकी आपकी बात कुछ तो समझ में आई ! आप 'रामचरितमानस'-जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते हैं ?"

अब तो देशसेवाभिलाषी महाशय का पारा गरम हो उठा और मुह से कुछ ऊटपटांग निकलने को ही था कि प्रश्नकर्त्ता बीच में ही बोल उठा— "शांति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे।"

अब तो हद हो गई। आग में जैसे मिट्टी का तेल डाल दिया हो। यह सवाद खूब जोर से भभकता, लेकिन प्रश्नकर्त्ता ने तुरत उसे पानी डालकर बुझा दिया—"मैं आपकी बात समझा। आप लिखना-पढना आदि सिखा सकेंगे और इसका भी जीवन में थोडा-सा उपयोग है, बिल्कुल न हो, ऐसा नही है। खैर, आप बुनाई सीखने को तैयार हैं।"

"अब कोई नई चीज सीखने का हौसला नही है और तिसपर बुनाई का काम तो मुझे आने का ही नही, क्योंकि आज तक हाथ को ऐसी कोई आदत ही नही।"

"माना, इस कारण सीखने में कुछ ज्यादा वक्त लगेगा, लेकिन इसमें न आने की क्या बात है ?"

"मैं तो समझता हू, नही हो आयगा। पर मान लीजिए, बडी मेहनत से आया भी तो मुझे इसमें बडा झझट मालूम होता है। इसलिए मुझसे यह नही होगा, यही समझिए।"

"ठीक, जैसे लिखना सिखाने को तैयार हैं, वैसे खुद लिखने का काम कर सकते हैं ?"

"हा, जरूर कर सकता हू। लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे। लिखते रहने का काम भी है झझटी, फिर भी उसके करने मे कोई आपत्ति नही है।" यह बातचीत यही समाप्त हो गई। नतीजा इसका क्या हुआ, यह जानने की हमें जरूरत नही।

शिक्षका की मनोवृत्ति समझने के लिए यह बातचीत काफी है। शिक्षण यानी—

किसी तरह की भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलता से शून्य;
कोई नई काम की चीज सीखने में स्वभावत असमर्थ हो गया है।
क्रियाशीलता से सदा के लिए उकताया हुआ,
'सिर्फ शिक्षण' का घमड रखनेवाला पुस्तकों में गड़ा हुआ, आलसी जीव,
'सिर्फ शिक्षण' का मतलब है जीवन से तोड़कर बिलगाया हुआ मुर्दा;
शिक्षण और शिक्षक के मानी 'मृत-जीवी' मनुष्य।

'मृत-जीवी' को ही कोई-कोई बुद्धि-जीवी कहते हैं। पर यह है वाणी का व्यभिचार। बुद्धि-जीवी कौन है? कोई गौतम बुद्ध, कोई सुकरात, शकराचार्य, अथवा ज्ञानेश्वर बुद्धि-जीवन की ज्योति जगा कर दिखाते हैं। 'गीता' में बुद्धि-ग्राह्य जीवन का अर्थ अतीद्रिय जीवन बतलाया है। जो इद्रियों का गुलाम है, जो देहासक्ति का मारा हुआ है, वह बुद्धि-जीवी नहीं है। बुद्धि का पति आत्मा है। उसे छोड़कर जो बुद्धि देह के द्वार की दासी हो गई, वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धि का जीवन ही मरण है। और उसे जीनेवाला मृत-जीवी। सिर्फ शिक्षण पर जीनेवाले जीव विशेष अर्थ में मृतजीवी हैं। इन सिर्फ शिक्षण पर जीनेवालों को मनु ने 'मृतकाध्यापक' उर्फ 'वेतन-भोगी-शिक्षक' नाम देकर श्राद्ध के काम मे इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्ध में तो मृत पूर्वजों की स्मृति को जिंदा करना रहता है और जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवन को मृत कर दिखाया है, उनका इस काम में क्या उपयोग?

शिक्षकों को पहले आचार्य कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान्। स्वय आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र से उसका आचरण करा लेनेवाला आचार्य है। ऐसे आचार्यों के पुरुषार्थ से ही राष्ट्र का निर्माण हुआ है। आज हिंदुस्तान की नई तह बैठानी है। राष्ट्र-निर्माण का काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षकों के बिना वह सभव नहीं है।

तभी तो राष्ट्रीय शिक्षण का प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और व्याप्ति हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्र का सुशिक्षित वर्ग निरग्नि और निष्क्रिय होता जा रहा है। इसका उपाय राष्ट्रीय शिक्षण की आग सुलगाना ही है।

पर वह अग्नि होनी चाहिए। अग्नि की दो शक्तियां मानी गई हैं। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तियां जहां है, वहां अग्नि है। 'स्वाहा' के मानी हैं आत्माहुति देने की, आत्म त्याग की शक्ति, और 'स्वधा' के मानी हैं आत्म-धारण की शक्ति। ये दोनों शक्तियां राष्ट्र-शिक्षण में जाग्रत होनी चाहिए। इन शक्तियों के होने पर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायगा। बाकी सब मृत—निर्जीव है, कोरा शिक्षण है।

ऊपर-ऊपर से दिखाई देता है कि अबतक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकों ने बड़ा आत्म त्याग किया है। पर वह उतना सही नहीं है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्याग के मानी आत्मत्याग नहीं है। उसकी कसौटी भी है। जहां आत्म-त्याग की शक्ति होगी, वहां आत्म-धारणा की शक्ति भी होती है। न हुई तो त्याग कोई काहे का करेगा ? जो आत्मा अपनेको खड़ा ही नहीं रख सकता वह कूदेगा कैसे ? मतलब, आत्मत्याग की शक्ति में आत्म-धारण पहले से शामिल ही है। यह आत्म-धारण की शक्ति—'स्वधा' राष्ट्रीय शिक्षकों ने अभी तक सिद्ध नहीं की है। इसलिए आत्मत्याग करने का जो आभास हुआ, वह आभासमात्र ही है।

पहले स्वधा होगी, उसके बाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षण को अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकों को अब स्वधा-संपादन की तैयारी करनी चाहिए।

शिक्षकों को 'केवल शिक्षण' की भ्रामक कल्पना छोड़कर स्वतंत्र जीवन की जिम्मेदारी—जैसी किसानों पर होती है वैसी—अपने ऊपर लेनी चाहिए और विद्यार्थियों को भी उसीमें दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारों ओर शिक्षण की रचना करनी चाहिए, अथवा अपने-आप होने देनी चाहिए। **'गुरोः कर्मातिशेषेण'** इस वाक्य का अर्थ 'गुरु के काम पूरे करके वेदाभ्यास करना' यही ठीक है। नहीं तो गुरु की व्यक्तिगत सेवा इतना ही अगर 'गुरोः कर्म का' अर्थ लें तो गुरु की सेवा आखिर कितनी होगी ? और उसके लिए कितने लड़कों को कितना काम करने को रहेगा। इसलिए 'गुरोः कर्म' करने के मानी हैं, गुरु के जीवन में जिम्मेदारी से हिस्सा लेना। वैसा दायित्वपूर्ण भाग लेकर उसमें जो शंका वगैरा पैदा हों उन्हें गुरु से पूछें और

गुरु को भी चाहिए कि अपने जीवन की जिम्मेदारी निबाहते हुए और उसीका एक अंग समझकर उसका यथाशक्ति उत्तर देता जाय । यह शिक्षण का स्वरूप है । इसीमे थोडा स्वतन्त्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यास के लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वर की उपासना का ही हो पर वैसा करके भी सुबह-शाम थोडा समय उपासना के लिए देना पडता है। यही न्याय वेदाभ्यास अथवा शिक्षण पर लागू करना चाहिए । मतलब, जीवन की जिम्मेदारी के काम ही दिन के मुख्य भाग में करने चाहिए और उन सभी को शिक्षण का ही काम समझना चाहिए । साथ ही रोज एक-दो घटे (Period) 'शिक्षण के निमित्त' भी देना चाहिए।

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवन मे उतारना राष्ट्रीय शिक्षक का कर्त्तव्य है । यह कर्तव्य करते रहने से उसके जीवन में अपने-आप उसके आस-पास शिक्षा की किरणें फैलेंगी और उन किरणो के प्रकाश से आस-पास के वातावरण का काम अपने-आप हो जायगा। इस प्रकार का शिक्षक स्वत सिद्ध शिक्षण-केंद्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्य को पवित्र जीवन बिताने की फिक्र करनी चाहिए। शिक्षण की खबरदारी रखने के लिए वह जीवन ही समर्थ है। उसके लिए 'केवल शिक्षण' की हवस रखने की जरूरत नही।

: १६ :

भिक्षा

मनुष्य की जीविका के तीन प्रकार होते है

(१) भिक्षा (२) पेशा और (३) चोरी।

भिक्षा, अर्थात् समाज की अधिक-से-अधिक सेवा करके समाज से सिर्फ शरीर-धारण भर को कम-से-कम लेना, और वह भी विवश होकर और उपकृत भावना से ।

पेशा, अर्थात् समाज की विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला माग लेना।

चोरी, अर्थात् समाज की कम-से-कम सेवा करके या सेवा करने का नाटक करके या बिलकुल सेवा किये बिना और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष नुकसान करके भी समाज से ज्यादा-से-ज्यादा भोग लेना।

प्रत्यक्ष चोर-लुटेरे, खूनी और इन्ही-सरीखे वे 'इतजामकार' पुलिस, सैनिक, हाकिम वगैरा सरकारी साथी-सहायक, इतजाम के बाहर के वकील, वैद्य, शिक्षक, धर्मोपदेशक वगैरा उच्च-उद्योगी और अव्यापारेषु व्यापार करनेवाले—ये सब तीसरे वर्ग में आते है।

मातृ-भूमि पर मेहनत करनेवाले किसान और जीवन की प्राथमिक आवश्यकताए पूरी करनेवाले मजदूर, ये दूसरे वर्ग में जाने के अभिलाषी है, जानेवाले नही। कारण, उनकी उचित पारिश्रमिक पाने की इच्छा होते हुए भी तीसरे वर्ग की करतूत के कारण आज उनमें से बहुतो को उचित पारिश्रमिक नही मिलता और वे निस्सदेह तीसरे वर्ग में दाखिल हो जाते है।

पहले वर्ग में दाखिल हो सकनेवाले बहुत ही थोडे, सच्ची लगन के साधु पुरुष है। बहुत ही थोडे है, पर है, और उन्हीके बल पर दुनिया टिकी है। वे थोडे है पर उनका बल अद्भुत है।

'भिक्षावृत्ति का लोप हो रहा है, उसका पुनरुद्धार होना चाहिए।" जब समर्थ यह कहते है तो उनका उद्देश्य इसी पहले वर्ग को बढाना है।

इसीको गीता में 'यज्ञ शिष्ट' अमृत खाना कहा है। और गीता का आश्वासन है कि यह अमृत खानेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है।

आज हिंदुस्तान में बावन लाख 'भीख मागने वाले' है। समर्थ के समय में भी बहुत 'भिक्षुक' थे, फिर भी भिक्षा-वृत्ति का जीर्णोद्धार करने की जरूरत समर्थ को क्या जान पडी?

इसका जवाब भिक्षा की कल्पना में है। बावन लाख की भिक्षा का जो अर्थ है वह तो चोरी का ही एक प्रकार है।

भिक्षा का मतलब है अधिक-से-अधिक परिश्रम और कम-से-कम लेना।

इतना भी न लिया होता पर शरीर-निर्वाह नही होता, इसलिए उतनेभर के लिए लेना पडता है। पर हक मानकर नही। समाज का मुझपर यह उपकार है, इस भावना से। भिक्षा मे परावलबन नही है, ईश्वरावलबन है; समाज की सद्भावना पर श्रद्धा है, यथा-लाभ सतोष है, कर्त्तव्यपरायणता है, फल-निरपेक्ष-वृत्ति का प्रयत्न है।

लोक-सेवक के शरीर-रक्षण को एक सामाजिक कार्य समझना चाहिए। विशिष्ट सामाजिक काम के लिए यदि किसीको कोई निश्चित रकम दी जाय तो उस रकम का विनियोग उचित रीति से, हिसाब रखकर, इसी कार्य के लिए वह करता है। मैं लोक-सेवक हू, इसलिए मेरा शरीर-धारण-कार्य भी सामाजिक कार्य है, ऐसा समझकर उसके लिए मुझे, आवश्यकतानुसार समाज देता है। उस रकम का उपयोग मुझे उसी काम में करना चाहिए, उचित रूप से करना चाहिए, उसका हिसाब रखना चाहिए, और वह हिसाब लोगो की जाच के लिए खुला रहना चाहिए। अर्थात् सब तरह से एक पच जैसे सचालन-व्यवस्था करेगा, वैसे 'निर्मम' भावना से मुझे अपने शरीर की सचालन-व्यवस्था करनी चाहिए। यह भिक्षावृत्ति है।

कुछ सेवको को कहते सुना जाता है—अपने पैसे को हम चाहे जैसे खर्च करें, सामाजिक पैसे का हिसाब ठीक रक्खेंगे, लोगो को दिखायगे, उनसे आलोचना चाहेंगे, उन्हे होगा तो उत्तर देंगे, नही तो क्षमा मागेंगे। पर हमारे अपने पैसे का हिसाब ठीक रखने को हम बधे नही है और दिखाने की तो बात ही नही। यदि सचाई से समाज सेवा करने वाला कोई आदमी यह कहे तो उसकी सेवा 'पेशा' बन गई। पेशा ईमानदार सही, पर है 'पेशा'; भिक्षावृत्ति नही।

भिक्षा कहती है—'तेरा' पैसा कैसा है? जैसे खादी के काम के लिए खादी का ज्ञाता मानकर तुझे पैसा सौपा गया उसी तरह तेरे शरीर के काम के लिए, तुझे उसका ज्ञाता समझकर, पैसा दिया गया। खादी के लिए दिया हुआ पैसा जब तेरा नही है, तब तेरे शरीर के लिए दिया हुआ पैसा तेरा कैसे हुआ? दोनो काम सामाजिक ही है।

एक खादी-प्रचारक से पूछा गया, "तुम्हें कितने की जरूरत है ?"

"तीस रुपये महीने की ।"

"तुम तो अकेले हो, फिर इतने की जरूरत क्यो है ?"

"दो-तीन गरीब विद्यार्थियो को मदद देता हू ।"

"हम यह मान लेते है कि गरीब विद्यार्थियो को इस तरह मदद देना अनुचित नही है। पर मान लो कि खादी के काम के लिए तुम्हें पैसे दिये गए तो उसमें से राष्ट्रीय शिक्षण के काम में लगाओगे क्या ? "

"ऐसा तो नही किया जा सकता ।"

' तब तुम्हारे शरीर का पोषण, जो एक सामाजिक काम है, उसके लिए तुम्हें दी गई रकम में से गरीब विद्यार्थियो को मदद देने में, जो दूसरा सामाजिक काम है, खर्च करने का क्या मतलब ?"

यह भी भिक्षा-वृत्ति का महत्वपूर्ण मुद्दा है। भिक्षा-वृत्तिवाले मनुष्य को दान का अधिकार नही है। दान हो या भोग दोनो का कर्ता 'मै' ही हू। और, भिक्षा में 'मै' को ही जगह नही है। इसी से दोनो को नही। न भोग में फसो, न त्याग में पडो—यह भिक्षावृत्ति का सूत्र है। भिक्षा-वृत्ति के मानी है ? 'घर वडा करना', वडी जिम्मेदारी सिर पर लेना। भिक्षा गैर-जिम्मेदारी नही है।

भिक्षा मागने के मानी है 'मागना छोड देना'। बाइबिल में कहा है, 'मागो तो मिल जायगा।' उसका मतलब है भगवान से मागो तो मिलेगा। पर समाज से ? 'मागो मत, तो मिलेगा।'

'भिक्षा मागना' ये शब्द विसवादी है। कारण, भिक्षा के मानी ही है न मागना। भिक्षा मागना ये शब्द पुनरक्त हैं। क्योकि भिक्षा ही स्वत -सिद्ध मागना है। भिक्षा मागनी नहीं पडती। कर्त्तव्य की झोली में अधिकार पडे ही है।

१३-७-४०

: १७ :

गांवों का काम

असहयोग-आदोलन के समय से गावो की ओर लोगो का ध्यान खिंचा है। गावो का महत्व समझ मे आने लगा है। कितने ही सेवक गावो में काम भी करने लगे हैं, और कुछको उसमें कामयाबी भी हुई है। पर अधिकाश को सफलता नही मिली है।

इसके पहले सुशिक्षितो की दृष्टि गावो की ओर गई ही न थी। पहले तो नजर परायो की ओर थी। इग्लैंड की जनता को अनुकूल करना चाहिए, सरकार को परिस्थिति समझानी चाहिए, आदि। बाद को निगाह अपनो की ओर फिरी। पर शहरो की ओर, सुशिक्षितो की ओर। 'सुशिक्षितो में राष्ट्रीय भावना पैदा करनी चाहिए' की बुनियाद पर सारा आदोलन चलता था। असहयोग के जमाने में गावो की ओर नजर गई। आगे बढे तो रचनात्मक कार्यक्रम के आदोलन में गावो में प्रवेश करने की, ग्रामवासी जनता की सेवा करने की प्रत्यक्ष प्रेरणा हुई और जो थोडा-बहुत नतीजा निकला दीखता है वह इस प्रेरणा का ही फल है। इतने वर्षों के लबे अनुभव के बाद हमारे ध्यान में आया कि 'तेरा साईं तेरे पास, तू क्यो भटके ससार में?' फिर भी काम की केवल शुरुआत होने के कारण बहुत-से स्थानो में गाव का काम निष्फल हुआ।

यह कोई नई बात नही है। शुरू-शुरू में ऐसा होता ही है। इससे निराश होने की कोई वजह नही और निराश होने की स्थिति है भी नही। कारण, कुछ स्थानो में गावो के प्रयोग सफल भी हुए हैं। इसके सिवा जो प्रयोग असफल प्रतीत होते है, वे भी प्रतीत-भर होते हैं। पत्थर तोडने में पहली कुछ चोटें बेकार गई-सी जान पडती है। पर उनका नतीजा तो होता ही है। इस मिसाल में फोडा जानेवाला पत्थर गाव की जनता नही, बल्कि हमारे सुशिक्षितो का विमुख हृदय है।

अब कही हमारे मन मे गावो में जाने की बात उदित हुई है, लेकिन हम

गावों में अपने शहरी ठाट-बाट से साथ जाना चाहते हैं, इससे हमारा काम जमता नहीं। गावों में ग्रामीण होकर जाना चाहिए। यही हमारी असफलता का मुख्य कारण है।

गाव में गया हुआ सुशिक्षित मनुष्य आज भी ग्रामीण तो नहीं ही बन पाया। पर आज वहा वह 'परोपकार' की हविस से जाता है। उसे गाववालों से खुद कुछ सीखना है, यह वह भूल जाता है।

उसे लगता है 'ये बेचारे अज्ञान में लोटते पड़े हैं।' अपना घोर अज्ञान उसे नहीं दिखाई देता और खुद उसे क्या करना चाहिए इसे बिसारकर वह लोगों से काम लेने के फेर में पड जाता है। इसकी वजह से वह ग्राम-जीवन से बिल्कुल अलग-सा हो जाता है।

१ अपनी सुशिक्षितपन की आदतें छोड़कर हमें गाव में जाना चाहिए।
२ गाववाला को शिक्षा देने की वृत्ति लेकर नहीं जाना चाहिए।
३ खुद काम में लगें।

ये तीन महत्वपूर्ण बातें हमें ध्यान में रखनी चाहिए।

कई बार ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति किसी गाव में जा बैठता है और किसी एक काम को, जिसे—गाव की मदद के बिना—वह कर सकता था, सारे गावभर में हलचल मचाकर भी नहीं कर पाता। अपने काम का उसे पूरा हिसाब—क्षण-क्षण का—रखना चाहिए। गाव के आदमियों की निगाह में उद्योगी आदमी की इज्जत होती है। जो सुशिक्षित आदमी गाव में जाकर किसीको कुछ सिखाने का खयाल छोड़कर रात दिन काम में मग्न रहेगा और अपने चरित्र की चौकसी करता रहेगा वह अपने-आप गाव के लिए उपयोगी बन जायगा और आकाश में जैसे तारे चद्रमा के चारों ओर इकट्ठे रहते हैं वैसे ही लोग उसके चारों ओर जमा हो जायगे। हिंदुस्तान की ग्रामवासी जनता कृतज्ञ है, गुण परखने की शक्ति उसमें भरपूर है।

ग्राम-सगठन का काम चरित्र-बल के अभाव में सभव नहीं है। और गाव की जनता के चारित्र्य का बटखरा 'प्राथमिक' सद्गुणों में अवलबित है, और यही असली बटखरा है। प्राथमिक सद्गुणों से मतलब है नीति के मूलभूत

सद्गुण। उदाहरणार्थ, आलस्य न होना, निर्भयता, प्रेम, इत्यादि। दिमाग़ उपार्जित गुण वक्तृत्व, विद्वत्ता वगैरा गाव के लिए बहुत उपयोगी नही होते। गाव में काम करनेवाले में भक्ति की लगन होनी चाहिए, भाव होना चाहिए। यह प्राथमिक सद्गुणो का राजा है।

पर अपने लोगो की पवित्र भावना मे अभी हम रमे ही नही। यह हमारी निष्फलता का बहुत ही बड़ा कारण है। गाव के लोगो के वहम, अधविश्वास हममें न होने चाहिए। लेकिन उनमें जो कीमती भावनाए है वे तो हममें होनी ही चाहिए। पर वे नही होती। भजन से हम भागते है। ईश्वर के नामोच्चारण से हमारे हृदय में भावना की बाढ आनी चाहिए पर वह नही आती। ईश्वर, धर्म, सतो के बारे में पूरी कल्पना न रखनेवाले गवारो में जो भक्ति-भाव होता है वह उनके सबध में वास्तविक और यथार्थ ज्ञान रखनेवालो में उनसे सौ-गुना ज्यादा होना चाहिए। पर हमे ईश्वर अथवा साधु-सतो के सबध में बिल्कुल ही ज्ञान नही होता। इतना ही नही, मान भी नही होता, अगर हुआ तो विपरीत ज्ञान भरपूर होता है। इस वजह से जनता के हृदय से हमारा हृदय मिल नही सकता। अस्पृश्यता-सरीखी जो विपरीत भावनाए धर्म के नाम से जनता मे रूढ हो गई है उन्हें निकाल डालने का उसीका प्रयत्न सफल होगा या उसीको प्रयत्न करना चाहिए जिसके हृदय मे जनता के हृदय की पवित्र भावनाए हिलोरे मारती है। जनता की योग्य भावनाए, जिसमे नही है वह जनता की अयोग्य भावनाए कैसे निकाल सकेगा?

लोगो की भली भावनाओ मे शामिल न हो सकना जैसे एक दोष है, वैसे ही दूसरे लोगो के शारीरिक परिचय की व्यर्थ इच्छा रखना भी दोष है, और हमारे काम के लिए घातक है। किसी तरह लोगो से खूब जान-पहचान बढाने की हविस से इधर-उधर के काम में व्यर्थ हाथ डालने से काम बिगडता है। अति-परिचय की आकाक्षा से हमारा लोगो के प्रति आदर-भाव कम हो जाता है। लोगो के सूक्ष्म-सूक्ष्म व्यवहारो पर बेमतलब ध्यान देने से हम उनकी सेवा नही कर सकते। सेवक को परिचय के बजाय आदर की ज्यादा जरूरत होती है। लोगो से परिचय कुछ कम हो और उनके लिए आदर अधिक, तो सेवक

के लिए यह ज्यादा अच्छा है।

लेकिन 'लोगो से खूब जान-पहचान होनी चाहिए' यह बात अच्छे-अच्छे सेवावृत्तिवालो के मुह से भी सुनी जाती है। पर इसकी जड में अहकार छिपा हुआ होता है। सेवक को सेवावृत्ति की मर्यादा जाननी चाहिए। हमारे शरीर मे कोई ऐसा पारस पत्थर तो नही चिपका हुआ है कि किसीका किसी तरह भी हमसे सबध जुडा नही कि वह सोना हुआ। सेवा के निमित्त से लोगो से जितना परिचय होता हो, जरूर होना चाहिए। ढूढ-ढूढकर परिचय के मौके निकालने की सेवक के लिए जरूरत नही है। सच्चे सेवक के पास सेवा अपने-आप हाजिर रहती है, उसे प्रसग नही ढढते फिरना पडता। शरीर से परिचय बढाने और उसीके साथ मन से जनता के बारे मे अनादर बढाते जाने मे कोई भी फायदा नही है।

इसके सिवा हममे एक और दोष है—त्याग की प्रतीति। हमसे थोडा-बहुत त्याग होता है। लेकिन त्याग की प्रतीति त्याग को मार डालती है। त्याग करके हम किसीपर कोई एहसान नही करते। इसके सिवा हमारा त्याग शहर की निगाह से 'त्याग' माना भी जाय तो गाव-गवई के हिसाब से उसकी कोई बडी वकत नही। गाव में तो बहुत ही बडे त्याग की अपेक्षा है। स्वय गाव के लोग—चाहे मजबूरी का ही क्यो न हो—त्याग से ही रहते है। उस हिसाब से हमारा त्याग किसी गिनती मे नही है। और फिर उसकी प्रतीति ! इससे सेवा ठीक तरह नही हो सकती।

इन दोषो को निकाल देने का प्रयत्न करने पर फिर हमारा गाव का काम असफल न होगा।

: १८ :

अस्पृश्यता-निवारण का यज्ञ

अस्पृश्यता निवारण की बात उठने पर कुछ लोग कहते है—"भई, ये बाते तो होने ही वाली है, समय का प्रवाह ही ऐसा है, इसके लिए इतना

आग्रह रखने की क्या जरूरत ?" समय का प्रवाह अनुकूल है, इसलिए कोशिश की जरूरत नहीं और समय प्रतिकूल हो तो कोशिश से कुछ होने का नहीं। मतलब दोनों तरह से 'कोशिश की जरूरत नहीं है।' दुनियवी कामों में कोशिश और धर्म को भाग्य-भरोसे। खूब! यह धर्म को धोखा देना नहीं तो क्या है ? लेकिन धर्म कभी धोखा नहीं खा सकता। धर्म को धोखा देने के प्रयत्न में मनुष्य अपने-आपको ही धोखे में डालता है। धर्म के मामले में 'कम-से-कम कितने म काम चल जायगा ?' यह कृपणवृत्ति जैसे बुरी है, वैसी ही 'हो ही रहा है', 'होने वाला है ही', यह भाग्य-वादिता भी बुरी है। 'होनेवाला है ही' इसके मानी क्या ? बिना किये होनेवाला है ? लड़के की शादी बिना किये नहीं होती और अस्पृश्यता निवारण बिना किये हो जायगा ? और फिर समय के प्रवाह के मानी क्या है ? समाज के सामुदायिक कर्तृत्व को ही तो 'समय का प्रवाह' कहते है ? उनमें से मैंने अपना कर्तृत्व निकाल लिया तो उतने हिस्सो में सामुदायिक कर्तृत्व कमजोर पड जायगा, और यदि सबने यही नीति अपना ली तो सारा कर्तृत्व ही उड जायगा ! लेकिन 'समय का प्रवाह अस्पृश्यता निवारण के अनुकूल है' इसका अर्थ अगर यह किया जाय कि 'हरिजनो में जागृति आ गई है, वे हमसे अपने-आप करा लेंगे फिर हम क्यो करें' तब तो ठीक ही है। वह भी होगा। लेकिन उससे हमें आत्म-शुद्धि का पुण्य नहीं नसीब होने का। ज्ञानदेव ने जैसा कहा है कि दूध उफन जाने से होम हुआ नहीं कहलाता। अग्नि का आहुति लेना और अग्नि को आहुति देना, दोनो में भेद है। पहली चीज को आग लगना कहते है और दूसरी को यज्ञ करना कहा जाता है। हम आत्म शुद्धि के यज्ञ-कुण्ड में अस्पृश्यता की आहुति न देंगे तो सामाजिक विप्लव की आग लगकर अस्पृश्यता जल जानेवाली है, यह निश्चित बात है। परमेश्वर हमें सद्बुद्धि दे।

: १९ :

आजादी की लड़ाई की विधायक तैयारी

आजकल हिंदुस्तान में आजादी की लडाई की चर्चा चल रही है। कुछ लोग कहते है कि इस बार की लडाई आखिरी होगी और द्रष्टाओ की तो भविष्यवाणी है कि कई कारणो से स्वराज्य हमारी दृष्टि की ही नही, हाथ की भी पहुच मे आगया है।

अनेक कारणो की बदौलत स्वराज्य नजदीक चाहे आगया हो, पर 'स्वराज्य' के विषय मे मुख्य प्रश्न यह है कि 'स्व' के कारण वह कितना नजदीक आया ? स्व-राज्य अनेक कारणो से नही मिलता, वह तो अकेले 'स्व-कारण' से ही मिलता है।

उधर यूरोप मे एक महायुद्ध हो रहा है। भेडिया का एक दल कहता है कि विरोधी दल के भेडियो द्वारा निगले गये मेमनो को—सभव हो तो जिंदा, नही तो कम-से-कम मरी हुई हालत मे—छुडाने के लिए हमने यह महायुद्ध स्वीकार किया है। अबतक के आठ महीनो मे तो भेडिये का पेट फाडकर पुराने मेमनो को बाहर निकालने के बजाय नित नए मेमने गले के नीचे उतारने का ही सिलसिला जारी है। इधर विरोधी दल के भेडियो के पेट में पहले ही से पडे हुए बडे-बडे मोटे-ताजे अधमरे मेमने इस आशा से मन के लड्डू खा रहे है कि भेडियो की इस झपटा-झपटी मे हम अवश्य ही उगल दिये जायगे।

'ईसप-नीति' की ऐसी एक कहानी है। उसका मतलब निकालने का भार ईसप को ही सौंपकर हम आगे बढें। यूरोप की लडाई हिंसक साधनों से हिंसक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए लडी जा रही है। हमारी लडाई अहिंसक साधनो से अहिंसक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए होगी। इन दोनो में भारी अतर होते हुए भी उस हिंसक लडाई से हम कई बाते सीख सकते है। लडाई के साधन चाहे-जैसे क्यो न हो, आजकल का युद्ध सामुदायिक तथा सर्वांगीण सहयोग का एक

जबर्दस्त प्रयत्न होता है। यद्यपि इस प्रयत्न का फल विध्वंसक होता है और उद्देश्य भी विध्वंसक होता है, तथापि यह प्रयत्न प्राय सारा-का-सारा विधायक ही होता है। कहते हैं कि जर्मनी ने गजब जार फौज तैयार की है। आठ करोड के राष्ट्र का इतनी बड़ी फौज तैयार करना, इतने बड़े पैमाने पर लड़ाई के हरबा-हथियार, और साधन-सामग्री जुटाना, चुने हुए लोगो को फौज मे भरती करने के बाद बाकी लोगो द्वारा राष्ट्रीय कारबार चलाना, सपत्ति की धारा अव्याहत गति से प्रवाहित रखने के लिए औद्योगिक योजनाए यथासभव अखड रूप से जारी रखना, सब स्कूल-कालिज बद कर देना, नित्य की जीवन-सामग्री की व्यक्तिगत मिल्कियत के अधिकार पर सरकारी कब्जा जमा लेना, जिस प्रकार विश्व-रूप-दर्शन में आख, कान, नाक, हाथ-पैर, सिर, मुह अनत होते हुए भी हृदय एक ही दिखाया गया है, मानो उसी प्रकार सारे राष्ट्र का हृदय एक करना—यह सब इतना विशाल और इतना सर्वतोमुख विधायक कार्यक्रम है कि उसके सहार-प्रवण होते हुए भी हम उससे बहुत-कुछ सीख सकते है।

लोग पूछते हैं—"गाधीजी लडाई की तैयारी करने को कहते हैं, मगर इससे रचनात्मक कार्यक्रम का सबध क्यो जोड देते है ? हिंदू-मुस्लिम-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, खादी और ग्रामोद्योग, मद्य-निषेध, गाव की सफाई तथा नई तालीम—यह सारा रचनात्मक कार्यक्रम है। इसमें लडाई का तत्त्व कहा है ?" यह सवाल कौन लोग पूछते है ? वे ही, जो यह मानते है कि हमें लडाई अहिंसक साधनो से ही करनी चाहिए। उनकी समझ में यह क्यो नही आता कि हिंसक लडाई के लिए भी अधिकाश में विधायक कार्यक्रम की ही जरूरत होती है। सिपाहियो के लिए बिस्कुट बनाने से लगाकर—नही, नही खेतो में आलू बोने से लगाकर—पनडुब्बियो द्वारा दुश्मनो के जहाज डुबाये जाने तक सब-का-सब लडाई का एक अखड कार्यक्रम होता है और उसके अतिम अश के सिवा शेष सारा प्राय रचनात्मक ही होता है। इस विधायक कार्यक्रम पर ही उस अतिम विनाशक कार्यक्रम की सफलता अवलबित होती है। यह शुरूवाला अगर नदारद हो जाय तो वह पीछेवाला भी लापता हो जायगा। यह भेद

जानवर ही दुश्मन सामनेवाले पक्ष के विनाशक कार्यक्रम को बेकार कर देने के उद्देश्य से उसके इस विधायक कार्यक्रम की ही टाग तोड देने के फेर मे रहता है। जहा हिंसक लडाई का यह हाल है वहा अहिंसक लडाई तो विधायक कार्यक्रम के बिना हो ही कैसे सकती है ? 'स्वराज्य' के मानी है 'सर्व-राज्य' अर्थात् हरेक का राज्य। इस प्रकार का स्वराज्य बिना सामुदायिक सहयोग के, बिना उत्पादक कार्यक्रम के, बिना सर्वोपयोगी राष्ट्रीय अनुशासन के कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? काग्रेस के तीस लाख सदस्य है। अगर वे राष्ट्र के लिए रोज आधा घटा भी कातें तो भी कितना बडा सगठन होगा ? इसमे मुश्किल क्या है ? वर्धा तहसील को ही लीजिए। इस तहसील में काग्रेस के छ हजार सदस्य हैं। उनको अगर बीस टुकडियो मे बाट दिया जाय तो हरेक टुकडी मे तीन सौ सदस्य होगे। हरेक टुकडी सालभर में तीन सौ सदस्यो को कातना सिखाने का इरादा कर ले तो कोई मुश्किल काम नही है। सबसे बडी बाधा है हमारी अश्रद्धा। "क्या लोग सीखने के लिए तैयार होगे ?" "क्या सीखने पर भी कातते रहेंगे ?" "कताई का हिसाब रखेंगे ?" "उसे काग्रेस के पास भेजेंगे ?"—ऐसी अनेक शकाए हम किया करते है। इसके बदले हम काम शुरू कर दें तो एक-एक गाठ अनुभव के बाद खुलने लगेगी।

कम-से-कम वर्धा तहसील मे इस कार्यक्रम को अमल में लाने की चेष्टा की जा सकती है। काग्रेस-कमेटियो, चरखासघ, ग्राम-सुधार-केंद्र, आश्रमो तथा अन्य सस्थाओ और गाव के अनुभवी व्यक्तियो के सहयोग से यह काम हो सकता है। काम का बाकायदा हिसाब लिखा जाना चाहिए। समय-समय पर कातने की प्रगति की जानकारी भी लोगो को दी जानी चाहिए। कातना सिखाने के मानी यह है कि उसके साथ-साथ दूसरी कई बाते भी सिखाई जा सकती है और सिखाई जानी चाहिए। कार्यकर्त्ता इस सूचना पर विचार करे। बहुत मुश्किल नही मालूम होगी। लाभदायक होगी। करके देखिए।

७-५-४०

: २० :

सर्व-धर्म-समभाव

दो प्रश्न हैं

(१) सर्वधर्म-समभाव का विकास करने के लिए क्या गांधी-सेवा-संघ की ओर से कुछ ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं है जिनमें विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक विचार हो ?

(२) क्या आश्रम तथा अन्य संस्थाओं में भिन्न-भिन्न धर्मों के महापुरुषों के उत्सव मनाकर उन अवसरों पर उन धर्मों के विषय में ज्ञान देना वांछनीय नहीं है ?

१—अगर समभाव की दृष्टि से कोई ग्रंथ-लेखक पुस्तक तैयार करे और गांधी-सेवा-संघ उचित समझे तो ऐसी पुस्तक प्रकाशित करना ठीक होगा। पर प्रकाशन-विभाग खोलना मुझे पसंद नहीं है। सच बात तो यह है कि संसार में धर्मों के बीच जो विषम भाव है वह उतना बुरा नहीं है। भारतवर्ष में भी काफी विरोध बताया जाता है लेकिन वह तो अखबारी चीज है। वास्तव में विरोध है ही नहीं। हमारी कई हजार वर्षों की संस्कृति ने हम लोगों में समभाव पैदा कर दिया है। देहात में अब भी वह नजर आता है। आजकल की नई प्रवृत्ति ने विरोध जरूर पैदा कर दिया है, पर वह धार्मिक नहीं है। उसका स्वरूप आर्थिक है। धर्म का तो बहाना ले लिया जाता है और अखबारों में प्रकाशन द्वारा उसे महत्व मिल जाता है। अगर वही प्रकाशन का काम हम अपने हाथों में ले ले तो उन्हींके शस्त्र का उपयोग करेंगे। यह अच्छी नीति नहीं है। जिस शस्त्र में प्रति-पक्षी निपुण है उसीका उपयोग करने से काम नहीं चलेगा। लेकिन इससे भी भयानक एक चीज और है। वह है सर्व-धर्म-सम-अभाव। अभाव बढ रहा है, नास्तिकता बढ रही है। नास्तिकता से मेरा संकेत तात्त्विक नास्तिकता की ओर नहीं है। तात्त्विक नास्तिकता से मैं डरता नहीं। पर लिखने से काम नहीं पार पडेगा। हम लिखें भी तो कितने

लोग पढ़ेंगे ? गदा साहित्य पढ़नेवाले तो हजारों हैं। अपने जीवन में हम जिन चीजों को उतार सकेंगे उन्हींका प्रचार होगा। पहले यही हुआ करता था। छापेखाने को आये हुए तो सौ वर्ष हुए। इस बीच किसी नए लेखक की लिखी कोई ऐसी पुस्तक निकली है जिसने तुलसीकृत रामायण और तुकाराम के अभंगों की तरह जनता में प्रवेश किया हो ? प्रकाशन प्रचार का एक साधन तो है, पर धार्मिक प्रचार में उसकी कीमत कम-से-कम है। जिस चीज को हम अपने श्रद्धेय पुरुषों के मुह से सुनते हैं उसका अधिक असर होता है। प्रकाशन से विशेष लाभ की सभावना नही जान पड़ती।

२—जहा आश्रम है वहा सब धर्मों के प्रवर्तकों के विषय में भी अवसर पर चर्चा कर सकते है। पर मेरी वृत्ति तो निर्गुण रही है। रामनवमी या कृष्णाष्टमी पर मैंने प्रसगवशात् भाषण किये हैं, लेकिन उन्हे प्रोत्साहन नही दिया। जहा ऐसे उत्सव हो सकते हैं उनके होने रहने में कोई हर्ज नही है।
५–३–३६

: २१ :

स्वाध्याय की आवश्यकता

देहात में जानेवाले हमारे कार्यकर्त्ताओं में से अधिकाश उत्साही नवयुवक है। वे काम शुरू करते है उमग और श्रद्धा से, लेकिन उनका वह उत्साह अत तक नही टिकता। देहात में काम करनेवाले एक भाई का खत मुझे मिला था। लिखा था—"मैं सफाई का काम करता तो हू, लेकिन पहले उसका जो असर गाववालों पर होता था वह अब नही होता। इतना ही नही, बल्कि वे तो मानने लगे है कि इसको कही से तनख्वाह मिलती है, इसीलिए यह सफाई का काम करता है।" अत में उस भाई ने पूछा है कि क्या अब इस काम को छोडकर दूसरा काम हाथ में ले लिया जाय ?

यों कार्यकर्त्ताओं को अपने काम में शकाए उत्पन्न होने लगती हैं और यह

हाल सिर्फ कार्यकर्ताओं का नहीं, बड़े-बड़े विद्वानों और नेताओं का भी यही हालत है। इसका मुख्य कारण मुझे एक ही मालूम होता है। वह है स्वाध्याय का अभाव। यहांपर 'स्वाध्याय' शब्द का जिस अर्थ में मैं उपयोग करता हूं, उसे बता देना आवश्यक है। स्वाध्याय का अर्थ मैं यह नहीं करता कि एक किताब पढ़कर फेंक दी, फिर दूसरी ली। दूसरी लेने के बाद पहली भूल भी गये। इसको मैं स्वाध्याय नहीं कहता। 'स्वाध्याय' के मानी हैं एक ऐसे विषय का अभ्यास जो सब विषयों और कार्यों का मूल है, जिसके ऊपर बाकी के सब विषयों का आधार है, लेकिन जो खुद किसी दूसरे पर आश्रित नहीं। उस विषय में दिनभर में थोड़े समय के लिए एकाग्र होने की आवश्यकता है। अपने-आपको और कातने आदि अपने सब कामों को उतने समय के लिए बिल्कुल भूल जाना चाहिए। अपने स्वार्थ के संसार में जितनी बाधाएं और कठिनाइयां पैदा होती हैं वे सभी इस परमार्थी कार्य में भी खड़ी हो सकती हैं और यह भी संसार का एक व्यवसाय बन जाता है। अगर कोई समझता हो कि यह परमार्थी काम होने की वजह से स्वार्थी संसार की झंझटों से मुक्त है तो यह समझ खतरनाक है। इसलिए जैसे कुछ समय के लिए संसार से अलग होने की आवश्यकता होती है वैसे ही इस काम से भी अलग होने की आवश्यकता है, क्योंकि वास्तव में वह काम केवल भावना का नहीं है, उसमें बुद्धि की भी आवश्यकता है। भावना तो देहातियों में भी होती है, लेकिन उनमें बुद्धि की न्यूनता है। उसे प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि और भावना एक दम अलग-अलग चीजें हों, सो नहीं है। इस विषय में मैं एक उदाहरण दिया करता हूं।

सूर्य की किरणों में प्रकाश है और उष्णता भी है। उष्णता और प्रकाश को तार्किक पृथक्करण से अलग-अलग कर सकते हैं। फिर भी जहां प्रकाश होता है वहां उसके साथ उष्णता भी होती ही है। इसी तरह जहां सच्ची बुद्धि है वहां सच्ची भावना है। और जहां उच्ची भावना है वहां सच्ची बुद्धि है ही। उनका तार्किक *पृथक्करण हम* कर सकते हैं, लेकिन दरअसल वे एकरूप ही हैं। कोई सोचता हो कि हमें बुद्धि से कोई मतलब नहीं है, सेवा की इच्छा है

और उसके लिए भावना का होना काफी है, तो वह गलत सोचता है। इस बुद्धि की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता है। विद्वानो को भी ऐसे स्वाध्याय की जरूरत है। फिर कार्यकर्त्ता तो नम्र है न? उसको तो स्वाध्याय की विशेष रूप से जरूरत है। इस विषय में बहुत-से कार्यकर्त्ता सोचते है कि बीच-बीच मे शहर मे जाकर पुस्तकालय मे जाना, मित्रो से मिलना आदि बाते ग्राम-सेवा के लिए उपयोगी है, इनमे उत्साह बढता है और उस उत्साह को लेकर फिर देहात मे काम करने में अनुकूलता होती है। लेकिन वे नही जानते कि ज्ञान और उत्साह का स्थान शहर नही है। शहर ज्ञानियो का अड्डा नही है।

उपनिषद् में एक कहानी है—एक राजा से किसीने कहा कि एक विद्वान् ब्राह्मण आपके राज्य मे है। उसको खोजने के लिए राजा ने नौकर भेजे। सारा नगर छान डालने के बाद भी उनको वह विद्वान् नही मिला। तब राजा ने कहा, "अरे, ब्राह्मण को जहा खोजना चाहिए वहा जाकर ढूढो।" तब वे लोग जगल मे गए और वहां उनको वह ब्राह्मण मिला। यह बात नही कि शहर में कोई तपस्वी मिल ही नही सकता। सभव है, कभी-कभी शहर मे भी ऐसा मनुष्य मिल जाय, लेकिन वहा का वातावरण उसके अनुकूल नही। आत्मा का पोषण-रक्षण आजकल शहरो मे नही होता। देहात मे निसर्ग के साथ जो प्रत्यक्ष सबध रहता है वह उत्साह के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शहर मे निसर्ग से भेंट कहा? जगल में तो नदी, पहाड, जमीन सब चीजें वही सामने दिखाई देती हैं और जगल के पास तो देहात ही होते हैं, शहर नही। सिर्फ उत्साह लेने के लिए ग्रामसेवको को शहर मे आना पडे, इसके बजाय शहरवाले ही कुछ दिनो के लिए देहात में जाकर कार्यकर्त्ताओ से मिलते रहे तो अधिक अच्छा हो। असल में उत्साह तो दूसरी ही जगह है। वह जगह है अपनी आत्मा। उस के चिन्तन के लिए कम-से-कम रोज एकाध घटा अलग निकालना चाहिए। तस्वीर खीचनेवाला तस्वीर को देखने के लिए दूर जाता है, और वहा से उस को तस्वीर मे जो दोष दिखाई देते है उनको पास आकर सुधार लेता है। तस्वीर तो पास रहकर ही बनानी पडती है, लेकिन उसके दोष देखने के लिए

अलग हट जाना पडता है। इसी प्रकार सेवा करने के लिए पास तो आना ही पडेगा। लेकिन कार्य को देखने के लिए खुद को अलग कर लेने की जरूरत भी है।

यही स्वाध्याय का उपयोग है। अपनेको और अपने कार्य को बिल्कुल भूल जाना और तटस्थ होकर देखना चाहिए। फिर उसीमें से उत्साह मिलता है, मार्ग-दर्शन होता है, बुद्धि की शुद्धि होती है।

: २२ :

दरिद्रों से तन्मयता

दो प्रश्न है

(१) हममें से जो आजतक तो मध्यम वर्ग का जीवन बिताते आये है परतु अब दरिद्र वर्ग से एक रूप होना चाहते है, वे किस क्रम से अपने जीवन में परिवर्तन करें जिससे तीन-चार वर्ष में वे निश्चित रूप में उन दरिद्रों से एकरूप हो जाय ?

(२) मध्यम अथवा उच्च वर्ग के लोग दरिद्रो से अपनी सद्भावना किस तरह प्रकट कर सकते है ? क्या इस प्रकार का कोई नियम बनाना ठीक होगा कि सघ के सदस्य कोई ऐसा उपाय करें जिससे उनके खर्च में से हर १५) में से ४) रुपये दरिद्रों के घर सीधे पहुच जाय ?

पहले तो हमें यह समझना है कि हम मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग के माने जानेवाले 'प्राणी' है हम प्राणवान् बनना चाहते है। जिनकी सेवा करना चाहते है उनके-से बनना चाहते है। पानी कही का क्यो न हो, समुद्र की ओर ही जाना चाहता है। यद्यपि सब पानी समुद्र तक नही पहुच सकता, लेकिन चाहे वह मेरा नहाया हुआ हो, या गगाजी का, दोनो की गति समुद्र की ओर है। दोनो निम्नगतिक—नम्र है। एक जगह थोडा पानी, उसकी ताकत कम होने के कारण, भले ही बीच म रुक जाय, और किसी छोटे वृक्ष

को जीवन प्रदान करने मे उसका उपयोग हो—यह तो हुआ उसका भाग्य, परन्तु उसकी गति तो समुद्र ही है। समुद्र तक पहुचने का भाग्य तो गगा के समान महानदियो को ही प्राप्त होता है। इसी तरह उच्च और मध्यम श्रेणिया पहाड और टीले के समान है। यहा जिसकी हमे सेवा करनी है वह महासमुद्र है। इस महासमुद्र तक सब न भी पहुच सके, तो भी कामना तो हम यही करते है कि वहातक पहुचे। अर्थात् जहातक पहुच पाय उतने ही से सतोष न मान ले। हमें जिसकी सेवा करनी है उसका प्रश्न सामने रखकर अपने जीवन की दिशा बदलते रहना चाहिए और खुद निम्न-गतिक—नम्र बनना चाहिए।

पर इसके कोई स्थूल नियम नही बनाये जा सकते। अगर बनाना शक्य हो तो भी वे मेरे पास नही है और न मैं चाहता ही हू कि ऐसे नियम बनाने का कोई प्रयत्न किया जाय। चार या पाच वर्षो में उच्च और मध्यम श्रेणी के लोगो को गरीब बना देने को कोई विधि नही है। हमे गरीबो की सेवा करनी है, यह समझकर जाग्रत रहकर शक्तिभर काम करना चाहिए। कोई नियम नही है, इसीलिए बुद्धि और पुरुषार्थ की गुजाइश है। पिछले सोलह वर्षो से मेरा यह प्रयत्न जारी है कि मैं गरीबो से एकरूप हो जाऊ, लेकिन मै नही समझता कि गरीबो का जीवन व्यतीत करने में सफल हुआ हू। पर इसका उपाय क्या है? मुझे इसका कोई दुख भी नही है। मेरे लिए तो प्राप्ति के आनद की अपेक्षा प्रयत्न का आनद बढकर है।

शिव की उपासना करनी हो तो शिव बनो, ऐसा एक शास्त्रीय सूत्र है। इसी तरह गरीबो की सेवा करने के लिए गरीब बनना चाहिए। पर इसमें विवेक की जरूरत है। इसके मानी यह नही कि हम उनके जीवन की बुराइयो को भी अपना ले। वे जैसे दरिद्रनारायण है वैसे मूर्ख-नारायण भी तो है। क्या हम भी उनकी सेवा के लिए मूर्ख बने? शिव बनने का मतलब यह नही है। जिनका धन गया उनकी बुद्धि तो उससे भी पहले चली गई। उनके जैसा बनकर हमे अपनी बुद्धि नही खोनी चाहिए।

देहात में किसान धूप में काम करते है। लोग कहते है, "बेचारे किसानो

को दिनभर धूप मे काम करना पडता है।" अरे धूप में और खुले आकाश के नीचे काम करना, यही तो उनका वैभव बचा रह गया है। क्या उसे भी आप छीन लेना चाहते है? धूप मे तो विटामिन काफी है। अगर हो सके तो हम भी उन्हीकी भाति करना शुरू कर दें। पर वे जो रात में मकानो को सदूक बनाकर उनमें अपने-आपको बद करके सोते है, उसकी नकल हमें नही करनी चाहिए। हम काफी कपडे रखे। उनसे भी हम कहे कि रात मे आकाश के नीचे सोओ और नक्षत्रो का वैभव लूटो। हम उनके प्रकाश का अनुकरण करे, उनके अधकार का नही। उनके पास अगर पूरे कपडे नही है तो हम उन्हे इतना समर्थ क्यो न बना दें कि वे भी अपने लिए काफी कपडे बना ले। उन्हे महीनो तरकारी नही मिलती, दूध नही मिलता क्या हम भी सागभाजी और दूध छोड दे। यह विचार ठीक नही है। एक आदमी अगर डूब रहा है और अगर उसे देखकर हमें दु ख होता है तो क्या हम भी उसके पीछे डूब जाय? इसमे दया है, सहानुभूति भी है। लेकिन वह दया और सहानुभूति किस काम की जिसमें तारक-बुद्धि का अभाव हो। सच्ची कृपा मे तारक-शक्ति होनी चाहिए। तुलसीदासजी ने उसे 'कृपालु अलायक' कहा है।

हमें अपने जीवन की खराबियो को निकालकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए। उसी प्रकार उनकी बुराइयो को दूरकर उनका जीवन भी पूर्ण बनाने में उनकी सहायता करनी चाहिए। पूर्ण जीवन वह है, जिसमें रस या उत्साह है। भोग या विलासिता को उसमें स्थान नही। हम दरिद्रो-जैसे बनें या पूर्ण जीवन की ओर बढ़ें। लोग कहते है, ऐसा करने से हमारा जीवन त्यागमय नही दिखाई देगा। पर हमें इस बात का विचार नही करना है कि वह कैसा दिखाई देगा। हम यह भी न सोचे कि इसका परिणाम क्या होगा? परिणाम-परायणता को छोड देना चाहिए। हमारी जीवन-पद्धति उनसे भिन्न है। हमें दूध मिलता है, उन्हे नही मिलता, इस बात का हमें दु ख हो, तो वह उचित ही है। यह दु ख-बीज तो हमारी हृदय-भूमि में रहना ही चाहिए। वह हमारी उन्नति करेगा। मुझे तो इसका कोई उपाय मिल भी जाय तो दु ख होगा। अगर किसी चमत्कार से कल ही हमें स्वराज्य मिल जाय तो उसमें कोई आनद

नहीं। हमारे पुरुषार्थ और रचनात्मक शक्ति से तारक-बुद्धि का प्रचार होकर सारी देहाती जनता एक इंच भी आगे बढ सके तो हम स्वराज्य के नजदीक पहुचेंगे। जैसे नदियां समुद्र की ओर बहती है, उसी प्रकार हमारी वृत्ति और शक्ति गरीबो की ओर बहती रहे, इसीमे कल्याण है।

: २३ :

तरणोपाय

वैधानिक आंदोलन करना, जनता की शिकायतें सरकार के सामने रखना और मीठे-मीठे ढग से उन शिकायतो का इलाज करा लेना और इतना करके सतोष मान लेना—शुरू में यही काग्रेस का कार्यक्रम था। लेकिन न तो शिकायतें दूर होती थी, और न सतोष ही मिलता था। युगभर के अनुभव के बाद काग्रेस इस नतीजे पर पहुची कि स्वराज्य के बिना चारा नही। यह अनुभव-सदेश तरुणो को सुनाकर पितामह दादाभाई निवृत्त हो गये।

धुन के पक्के तरुण काम में जुट गये। गुप्त षड्यंत्र, सरकारी अहलकारो का खून और सरकार को डराकर स्वराज्य प्राप्त करने का अपनी दृष्टि से स्वावलंबी प्रयोग उन्होने शुरू कर दिया। आदोलन के लिए पैसे की जरूरत होती ही है। वह कहा से लाया जाय ? यह मार्ग परावलंबी था। इसके अलावा अराजक तरुणों के लिए वह खुला भी नहीं था। युवकों ने डाके डालकर पैसे कमाने के स्वावलंबी मार्ग का अवलंबन किया। शुरू में इन डाकुओ की—जिनके घरो में डकैती हुई, उन लोगो ने तो नहीं, पर जो सुरक्षित थे, उन लोगोंने—थोडी-बहुत प्रशंसा भी की। इसलिए स्वार्थी डाकू भी उनके लिए इस अधिक सुसाध्य साधन का प्रयोग करने लगे। जो भजन-जैसी उज्ज्वल संस्था पर भी कब्जा कर सके, उनके लिए डकैती हस्तगत करना मुश्किल तो था ही नहीं। फलत दोनों प्रकार की डकैतियों से जनता पीडित हुई। उधर सरकार ने भी दमन-नीति अख्तियार की। तरुणो के लिए जो सहानुभूति थी

उसका स्रोत सूखने लगा। इतने में रामझदार अहिंसावादी आये। वे कहने लगे कि पुराना वैधानिक आदोलन का मार्ग जिस प्रकार निरर्थक था, उसी प्रकार यह गुप्त साजिशो का रास्ता भी बेकार है। इधर-उधर दो-चार खून करने से क्या फायदा ? हिंसा भी कारगर होने के लिए सगठित होनी चाहिए। असगठित, अव्यवस्थित, लुक-छिपकर की हुई हिंसा किसी काम की नही। और सगठित हिंसा हमारे वस की बात नही है। इसलिए हमें अहिंसा से ही प्रतिकार करना चाहिए। गाधीजी हमें रास्ता दिखाने में समर्थ है। उनके मार्ग-दर्शन से लाभ उठाकर हमें जनता की प्रतिकार-शक्ति सगठित करनी चाहिए। जनता की शक्ति सगठित होने पर उसकी बदौलत सपूर्ण नही तो थोडी-बहुत सत्ता हमारे हाथो में अवश्य आयगी। यह सत्ता आने पर आगे का विचार कर लेगे।

अवश्य ही, यह अहिंसा नीति-रूप में थी जो हमारे युवको को भी गुप्त षड्यन्त्रो की असफलता के और दक्षिण अफ्रीका मे गाधीजी की सफलता के अनुभव के कारण कुछ-कुछ जची। जो लोग अपनी परछाईं तक से डरते थे उनको छोडकर सारा का सारा राष्ट्र एकत्र होकर अहिंसक प्रतिकार के इस नए आदोलन में शामिल हुआ। गाधीजी की नैष्ठिक अहिंसा को जोडने-घटाने से जितनी शक्ति प्रकट हो सकी, उसी परिमाण मे उसका परिणाम भी निकला और सगठित हिंसा की अव्यवहार्यता अन्वयव्यतिरेक से सर्व-मान्य हुई।

इतने में यूरोप में महायुद्ध की आग भडकी। शौर्य, साधन-सपत्ति, सगठन, साहस आदि गुणो के लिए प्रसिद्ध शक्तिशाली राष्ट्र पाच-पाच दस-दस दिनो में अपनी स्वतत्रता गवा बैठे। बीस साल पहले वैभव के शिखर पर पहुचा हुआ फ्रास-जैसा राष्ट्र भी तीस लाख की फौज खडी कर, इग्लैण्ड जैसे राष्ट्र का सहयोग प्राप्त कर, और शूरता की पराकाष्ठा कर, गुलाम से भी गुलाम हो गया। जिन हाथो ने पिछले महायुद्ध में फ्रास को विजय प्राप्त करा दी, शरण-पत्र लिखने के लिए भी वही हाथ काम आये।

हमारी आखें खुल गईं। असगठित हिंसा तो बेकार साबित हो ही चुकी

थी। लेकिन कार्य-समिति कहती है कि अब यह स्पष्ट हो गया कि चाहे जितने बडे पैमाने पर की गई सगठित हिंसा भी स्वतत्रता की रक्षा के लिए बेकार है।

असगठित हिंसा और सुसगठित हिंसा—नही, नही अतिसुसगठित हिंसा भी—दोनो या तीनो बेकार सिद्ध हो चुकी है। तब क्या किया जाय?

गाधीजी कहते है—"अहिंसा के प्रति अपनी निष्ठा दृढ करो।"

हम कहते है—"हम अभी तैयार नही है।"

"तो तैयारी करो।"

"अवसर बडा विकट है। नाजुक वक्त आगया है। हम दुर्बल मनुष्य है। इसलिए वैसी तैयारी की आज तुरत गुजाइश नही है।"

"तो फिर घडीभर के लिए स्वस्थ (शात) रहो। मिल्टन कहता है, जो स्वस्थ (शात) रहकर प्रतीक्षा करते है वे भी सेवा करते है।"

"हा, करते तो और कई लोग भी ऐसा ही है, लेकिन हमपर जिम्मेदारी है। हमें कुछ-न-कुछ हाथ-पैर हिलाना ही चाहिए।"

पानी में तैरनेवाला तर जाता है। पानी पर स्वस्थ (शात) लेटनेवाला भी पानी की सतह पर रहता है। केवल हाथ-पैर हिलानेवाला तह में पहुच जाता है। केवल 'हम कुछ-न-कुछ कर जायगे' से ही क्या होने वाला है?

१-७-४०

२४ :

व्यवहार में जीवन-वेतन

हर बात में मै गणित के अनुसार चला हू। शिक्षा-समिति (हिंदुस्तानी-तालीमी-सघ) के पाठ्यक्रम में कातने-धुनने की जो योजना मैने दी है उसे देखकर किशोरलालभाई-जैसे चौकन्ने सज्जन ने भी कहा कि तुमने गति वगैरा का जो हिसाब रखा है उसपर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता।

गणित का इस प्रकार प्रयोग करनेवाला होने पर भी मै ऐसा मानता हू कि कुछ चीजो के 'मूले कुठारघात' कर के उन्हे तोड डालना चाहिए। वहा 'धीरे-धीरे', 'क्रमश' आदि शब्द-प्रयोग उपयुक्त नही होता। मै अपने जीवन मे ऐसा ही करता हू। १९१६ मे मैने घर छोडा। यो तो घर की परिस्थिति कुछ ऐसी न थी कि मेरा वहा रहना असभव हो जाय। मा तो मुझे ऐसी मिली थी कि जिसकी याद मुझे आज भी नित्य आती है। पिताजी अभी जीवित है। उनकी उद्योगशीलता, अभ्यास-वृत्ति, साफ-सुथरापन, सज्जनता आदि गुण सभीको अनुकरणीय लगेगे। लेकिन यह सब होते हुए भी मुझे ऐसा लगा कि मै अब इस घर मे नही समा सकता। जब घर छोडा तब 'इटरमीजिएट' मे था। कितने ही मित्रो ने कहा—"दो ही साल और लगेगे। बी० ए० करके डिग्री लेकर जाओ।" उन सबके लिए एक ही जवाब था कि "विचार करने का मेरा यह ढग नही है।" घर छोडने के पहले भिन्न-भिन्न विषयो के सर्टिफिकेट लेकर चूल्हे के पास बैठ गया और तापते तापते उन्हे जलाने लगा। मा ने पूछा, "क्या कर रहा है?" मैने कहा, "सर्टिफिकेट जला रहा हू।" उसने पूछा, "क्यो?" मैने कहा "उनकी मुझे क्या जरूरत?" मा ने कहा, "अरे, जरूरत न हो तो भी पडे रहे तो क्या हर्ज है? जलाता क्यो है?" "पडे रहे तो क्या हर्ज है?" इन शब्दो की तह मे यह भावना छिपी हुई है कि "आगे कभी उनका उपयोग करने की जरूरत पडे तो?" इस घटना की याद मुझे पारसाल आई। सरकार ने मैट्रिक पास को मतदान का अधिकार दिया है। मुझे यह अधिकार मिल सकता है। लेकिन मेरे पास सर्टिफिकेट कहा है? एकाध रुपया खर्च कर दरख्वास्त करू तो शायद उसकी नकल मिल जाय; पर मैने कहा कि "क्या मतलब उस सर्टिफिकेट से? पैतीस करोड लोगो मे से तीन करोड को मतदान का अधिकार मिला है। बाकी बत्तीस करोड को नही मिला है। मै उन्हीके साथ क्यो न रहू?"

मुझे मराठो के इतिहास की घटना याद आती है। गोह के बमद की मदद से मराठे सिंहगढ पर चढ गये। लडाई मे तानाजी मारा गया। उसके मारे जाते ही मराठो की सेना हिम्मत हारकर भागने लगी और जिस रस्से के

समझ पाये हैं कि पैसे गवाकर हृदय बचाने मे भी कुछ चतुराई है। जबतक कम-से-कम पैसे देने मे चतुराई मानी जाती है तबतक गाधीजी की बात समझ में नही आ सकती और न अहिंसा का प्रचार ही हो सकता है।

तरकीबें सोची जा रही हैं कि कलकत्ते में जापानी बम बरसायें तो हम आत्मरक्षा किस तरह करे, लेकिन इनसे क्या होने वाला है ? बम तो बरसने-वाले ही हैं। आज न सही दस साल बाद बरसेंगे। यदि एक ओर हम जापान का सस्ता माल खरीदकर उसे मदद करते रहेंगे और दूसरी ओर उसके बम न गिरें इसकी कोशिश करते रहेंगे तो वे बम कैसे टलेंगे ?, बम या युद्ध टालने का वास्तविक उपाय तो यही है कि हम अपनी आवश्यकता की चीजें अपने आस-पास तैयार कराये और उनके उचित दाम दे।

एक बार एक सभा में मैंने पूछा कि "हिन्दुस्तान की औसत आयु-मर्यादा इक्कीस साल और इग्लैंड की बयालीस साल है, तो बताइए इग्लैंड का मनुष्य हिंदुस्तानी की अपेक्षा कितने गुना ज्यादा जीता है ?" छोटे-छोटे बालकों ने ही नहीं बल्कि बडे-बडे पढे लिखे लोगों ने भी जवाब दिया कि "दुगुना जीता है।" मैंने उन सबको फेल कर दिया। मैंने कहा कि "इक्कीस दूने बयालीस होते हैं, यह सही है। लेकिन हरएक आदमी की उम्र के लडकपन के पहले चौदह साल छोड देने चाहिए क्योंकि उनसे समाज को कोई फायदा नही होता। ये चौदह साल यदि हम छोड दें तो हिंदुस्तान का आदमी सात साल और इग्लैंड का अट्ठाईस साल जीता है। यानी हिंदुस्तान की अपेक्षा इग्लैंड का मनुष्य दुगुना नही चौगुना जीता है।"

यही नियम मजदूरी में भी घटित होता है। समाज में यदि सभी लोग उद्योगी और परस्परावलम्बी होते तो चीजो के भाव चाहे जो होने से या आठ आने की जगह दो आने मजदूरी होने से कोई फर्क न पडता। तेली का तेल जुलाहा खरीदता है, उसका कपडा तेली खरीदता है, दोनो किसान से अनाज खरीदते हैं, किसान दोनो से तेल या कपडा खरीदता है। उस दशा में हम अनाज का भाव रुपये का चार सेर समझें या दस सेर समझें, क्या फर्क पडेगा? रोजाना मजदूरी दो आने रहे या आठ आने, क्या फर्क होगा ? क्योंकि

जब सभी उद्योगी और परस्परावलवी हैं तो एक चीज का जो भाव होगा उसी हिसाब से दूसरी चीजो के भाव भी लगाये जायगे। महगे दाम लगायगे तो व्यवहार में बडे-बडे सिक्के बरतने होंगे और सस्ते दाम लगायगे तो सस्ते सिक्को की जरूरत होगी। महगे भावों के लिए रुपये लेकर बाजार में जाना होगा। सस्ते भाव होंगे तो कौडियों से लेन-देन का व्यवहार हो सकेगा। लेकिन इससे कोई फर्क नही पडता। मगर आज समाज में एक ऐसा वर्ग है कि जो न तेल पेरता है, न कपडा बुनता है, न अनाज पैदा करता है और न दूसरा कोई उत्पादक श्रम करता है। हम अगर चीजो के दाम बढ़ा दे तो एक सेर भटे के बदले आज इस वर्ग की ओर से हमें चार पैसे मिलते होगे तो कल दो या चार आने मिलने लगेंगे। भाव या मजदूरी बढाने का यही लाभ या उपयोग है। लेकिन यह वर्ग हर हालत मे बहुत छोटा ही रहेगा। इसलिए अगर हम सबकी मजदूरी आठ आने कर दें तो वास्तव मे वह चौगुनी न पडकर डेढ गुनी या दुगुनी ही पडेगी।

लेकिन आज आठ आने मजदूरी के सिद्धात को कोई ग्रहण ही नही करता। उसे स्वीकार करने का मतलब है कि हमे अपनी सारी जीवनोपयोगी चीजो के दाम मजदूरी के हिसाब से लगाने चाहिए। तब पता चलेगा कि ढाई-तीन सौ साल पहले का उस बेवकूफ तुकाराम का अर्थशास्त्र आज १९३८ या १९३९ के आधुनिकतम अर्थशास्त्र से मेल खाता है। हम एक ऐसी जमात बनाना चाहते हैं जो मजदूरी का उपर्युक्त सिद्धात अमल में लाये। हम अगर एक घडा खरीदने जाय तो कुम्हारिन उसके दाम दो पैसे बतलायगी। हमे चाहिए कि हम घडा बनाने में लगा हुआ वक्त पूछकर उससे कहे कि "मा, मैं तुझे इस घडे के दो आने दूगा। क्योकि इसके लिए तुझे इतने घटे खर्च करने पडे है और उन घटो की इतनी मजदूरी के हिसाब से इतने दाम होते है।" आप दो आने देकर वह मटका खरीदेगे तो मटकेवाली समझेगी कि यह कोई बेवकूफ आदमी जान पडता है। दूसरी बार अगर आप एक झाडू लेने जायगे तो वह तुरत उसके दाम छ आने बतलायगी। तब आप उससे सारा हिसाब पूछकर समझायगे कि झाडू के दाम छ आने नहीं, बल्कि दो या

तीन आने है। तब वह स्त्री समझ जायगी कि यह आदमी बेवकूफ नही है, इसे अक्ल है और यह किसी-न-किसी हिसाब के अनुसार चलता है।

ठगा जाना एक बात है और विचारपूर्वक मौजूदा बाजार-भाव की अपेक्षा अधिक, लेकिन वस्तुत उचित कीमत देना बिल्कुल दूसरी बात है। उचित कीमत ठहराने के लिए हमें विभिन्न धधो का अध्ययन करके या उन धधो मे पडे हुए लोगो से प्रेम का सबध कायम करके अलग-अलग चीजो का एक समय-पत्रक बनाना होगा। उतने समय की उचित मजदूरी तय करनी होगी और उसमे कच्चे माल की कीमत जोडकर जो दाम आय उतनी उस चीज की कीमत समझनी चाहिए। यदि हम ऐसी कीमत नही देते तो अहिसा का पालन नही करते।

अब, यह मजदूरी सब लोग आज नही देगे। यदि मुमकिन हो तो हम पूरी मजदूरी का माल बेचनेवाली एक एजेसी खोल सकते है। अगर वह सारा माल बिकवा दे तो कोई सवाल ही नही रह जाता, लेकिन अगर यह मुमकिन न हो तो मजदूरों को आज की तरह उसी पुराने भाव में अपना माल बेचना पडेगा। ऐसी हालत मे उनके सामने दो रास्ते है। एक तो यह कि वे कम दामा मे अपना माल बेचने से इकार कर दे, लेकिन यह आज असभव है। दूसरा रास्ता यह है कि मजदूरो मे ऐसी भावना—हिसाबी वृत्ति का निर्माण हो कि वे कहे कि 'इस चीज की उचित कीमत इतनी है। परतु यह धनवान मनुष्य वह कीमत नही देता। तो जितनी कीमत उसने दी है उतनी जमा करके बाकी के पैसे मैंने उसे दान मे दिये, ऐसा मैं मान लूगा।" धनाढ्य लोग गरीबा को जो दे वही दान है या केवल धनाढ्य ही दान कर सकते है यह धारणा क्यो हो? जो लोग सदा दान दे रहे है उन्हें इस बात का ज्ञान करा देना चाहिए कि वे दान दे रहे है।

पूरी मजदूरी के सिवाय समाजवाद या साम्यवाद का दूसरा कोई इलाज नही। इतना ही नही बल्कि इतना रक्तपात इस देश में होगा जितना कि रूस या दूसरे किसी देश में न हुआ होगा। मैंने एक व्याख्यान में—पौनार की खादी-यात्रा म—साक्षात महात्मा गाधी के सामने वेद का यह मत्र "मोघमन्न

विन्दते अप्रचेताः सत्य ब्रवीमि वधइत् स तस्य' । नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" पढा जो स्पष्ट शब्दो में कहता है कि जो धनिक अपने आसपास के लोगों की पर्वाह न करते हुए धन इकट्ठा करता है वह धन प्राप्त करने के बदले अपना वध प्राप्त करता है। 'वध' और 'मृत्यु' मे यद्यपि सायणाचार्य कोई भेद नही करते तथापि मेरी दृष्टि से उन दोनो का भेद अत्यत स्पष्ट है। इस मत्र को आप समाजवाद का मत्र कह सकते हैं। मजदूरो या श्रमजीवियो के तमाम प्रश्नो का पूरी मजदूरी ही एकमात्र अहिंसक हल है।

अब मैं आज की खास बात पर आता हू। ग्राम-सेवा-मण्डल इस तहसील मे खादी-उत्पत्ति का प्रयत्न ज्यादा जोरो से करने वाला है। "जिस माल पर चरखा-सघ को कुछ नफा मिल जाता है, वह खासकर वैसा माल तैयार करना चाहता है। चरखा-सघ का काम कई वर्ष पहले से चल रहा है। इसलिए यद्यपि वह आज चार आने मजदूरी देने को तैयार है तो भी हम तो तीन आने देकर ही खादी बनवायगे," आदि दलीलें देकर काम करना चाहता है। मैं कहता हू कि चरखा-सघ सावली में तो मजदूरी 'कल्दार' मे देता है, लेकिन निजाम राज्य में 'हाली' (निजाम राज्य का सिक्का) में देता है, उसका समर्थन या इसके पीछे जो विचारधारा है उसे मैं समझ सकता हू। 'कल्दार' तीन आने में सावली मे जितना सुख मिल सकता है उतना ही सुख 'हाली' तीन आने मे मुगलाई (निजाम राज्य) में मिल सकता है, क्योंकि वहा गरीबी ज्यादा है। वह विचारधारा इस प्रकार की है। उसी विचार-धारा के अनुसार सावली की अपेक्षा वर्धा म जीवन-निर्वाह अधिक महगा है। इसलिए यहा सावली से ज्यादा मजदूरी देनी चाहिए। सावली में तीन आने देते है, इसलिए यहा भी तीन ही आने देने है, ऐसा कहने से काम न चलेगा।

अगर हम ऐसा करेगे तो फिर वही महमूद और फिर्दौसीवाला किस्सा चरितार्थ होगा। महमूद ने शाहनामे की प्रत्येक पक्ति के लिए एक दीनार देने का वायदा किया। लेकिन जब उसने यह देखा कि फिदौसी का लिखा हुआ शाहनामा तो बड़ा भारी ग्रथ है तब इतने सोने के दीनार देने की उसकी हिम्मत न हुई। इसलिए उसने सोने के दीनारो की जगह चांदी के दीनार दिये।

इतने से क्या होनेवाला है ? पहले की सरकार भी गृह-उद्योग नाम पर क्या ऐसी मदद किसी हालत मे न देती ? आज सरकार चारो तरफ से परेशान की जा रही है। इधर जापान का डर है। उधर यूरोप में भीषण लडाई का डर है। ऐसी परिस्थिति में यह कौन कह सकता है कि हमें खुश करने के लिए पुरानी सरकार भी पैसे न देती ? लेकिन ऐसे पैसो से खादी का असली काम पूरा नही होने का।

खादी के पीछे जो विचारधारा है उसे समाज के सामने कार्यरूप में उपस्थित करने की जिम्मेदारी हमारी है। इसलिए ग्रामसेवा-मडल को मेरी यह सलाह है कि वह आठ घटे की आठ आने मजदूरी देकर खादी बनवाये। कम-से-कम इतना तो करे कि जिस परिमाण में यहा (वर्धा) का जीवन-निर्वाह सावली से महगा हो उस परिमाण में ज्यादा मजदूरी देकर खादी बनवाये। इस खादी की खपत अगर न हो तो मै खादीधारियो से साफ-साफ पूछगा कि आप पुतलीघर का कपडा क्यो नही पहनते ? वह भी स्वदेशी तो है। समाजवादियो के सिद्धात के अनुसार उसपर राष्ट्र का नियत्रण हो इतना काफी है। एकाध आदमी पूरा जीवित या पूरा मृत है, यह मै समझ सकता हू। लेकिन पौन जिदा और पाव मरा हुआ है, यह कथन मेरी समझ में नही आ सकता। या तो वह पूरा जिदा होगा या मरा हुआ। इसलिए अगर खादी बरतना है तो उसके मूल में जो भावनाए है, जो विचार है, उन सबको ग्रहण कर उसे धारण करना चाहिए। जो खादी को इस प्रकार अगीकार करें वे ही दरअसल खादीधारी है। आज तक हम खादी शब्द की व्याख्या 'हाथ का कता और हाथ का बुना कपडा' इतना ही करते आये है, अब उसम 'पूरी मजदूरी देकर बनवाया हुआ' ये शब्द और जोड देने चाहिए।

: २५ :

श्रमजीविका

"ब्रेड लेबर" के मानी है, "रोटी के लिए मजदूरी" यह शब्द आपमे से कई लोगो ने नया ही सुना होगा। लेकिन यह नया नही है। टॉल्सटाय ने इस शब्द का उपयोग किया है। उसने भी यह शब्द बादरेगा नामक एक लेखक के निबध से लिया और अपनी उत्तम लेखन-शैली द्वारा उसको दुनिया के सामने रख दिया। मैने यह विषय जान-बझकर चुना है। शिक्षण-शास्त्र का अभ्यास करते हुए भी सभव है कि इस विषय का आपने कभी विचार न किया हो। इसलिए इसी विषय पर बोलने का मैने निश्चय किया। इस विषय पर विचार ही नही, बल्कि वैसा ही आचरण करने की कोशिश भी मै बीस साल से करता आ रहा हू, क्योकि जीवन मे और साथ-साथ शिक्षण मे भी मै शरीर-श्रम को प्रथम स्थान देता हू।

हम जानते है कि हिंदुस्तान की आबादी पैंतीस करोड है और चीन की चालीस-पैंतालीस करोड। ये दोनो राष्ट्र प्राचीन है। इन दोनो को मिला दिया जाय तो कुल आबादी अस्सी करोड तक हो जाती है। इतनी जन-सख्या दुनिया का सबसे बडा और महत्व का हिस्सा हो जाता है। और यह भी हम जानते है कि यही दोनो देश आज दुनिया में सबसे ज्यादा दुःखी, पीडित और दीन है। इसका कारण यह है कि इन दोनो मुल्को ने वृत्ति का जो आदर्श अपने सामने रक्खा था, उसका पूरा अनुसरण उन्होने नही किया और बाहर के राष्ट्रो ने उस वृत्ति को कभी स्वीकार ही नही किया। मेरा मतलब यह कहने से है कि हिंदुस्तान में शरीर-श्रम को जीवन मे प्रथम स्थान दिया गया था और उसके साथ यह भी निश्चय किया गया था कि वह परिश्रम चाहे जिस प्रकार का हो, कातने का हो, बढई का हो, रसोई बनाने का हो, सबका मूल्य एक ही है। भगवद्गीता में यह बात साफ शब्दो मे लिखी है। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र, हो, किसीको चाहे जितना छोटा या बडा काम मिला हो, पर अगर

उसने उस काम को अच्छी तरह किया है तो उस व्यक्ति को संपूर्ण मोक्ष मिल जाता है। अब इससे अधिक कुछ कहना बाकी नही रह जाता। मतलब यह है कि हरएक उपयुक्त परिश्रम का नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है। इस प्रचलित धर्म का आचरण तो हमने किया नही, पर एक बडा भारी शूद्रवर्ग का निर्माण कर दिया। शूद्रवर्ग यानी मजदूरी करनेवाला वर्ग। यहा जितना बडा शूद्रवर्ग है, उतना बडा शायद ही किसी दूसरी जगह हो। हमने उससे अधिक से-अधिक मजदूरी करवाई और उसको कम-से-कम खाने को दिया। उसका सामाजिक दर्जा ही न समझा। उसे कुछ भी शिक्षा नही दी। इतना ही नही, उसे अछूत भी बना दिया। नतीजा यह हुआ कि कारीगर वर्ग में ज्ञान का पूरा अभाव होगया। वह पशु के समान केवल मजदूरी ही करता रहा।

प्राचीन काल मे हमारे यहा कला कम नही थी। लेकिन पूर्वजो से मिलनेवाली कला एक बात है और उसमें दिन-प्रतिदिन प्रगति करना दूसरी बात। आज भी काफी प्राचीन कारीगरी मौजूद है। उसको देखकर हमें आश्चर्य होता है। अपनी प्राचीन कला को देखकर हमें आश्चर्य होता है, यही सबसे बडा आश्चर्य है। आश्चर्य करने का प्रसग हमारे सामने क्यो आना चाहिए। उन्ही पूर्वजो की तो हम सतान हैं न ? तब तो उनसे बढकर हमारी कला होनी चाहिए। लेकिन आज आश्चर्य करने के सिवा हमारे हाथ में और कुछ नही रहा। यह कैसे हुआ ? कारीगरो मे ज्ञान का अभाव और हम में परिश्रम-प्रतिष्ठा का अभाव ही इसका कारण है।

प्राचीन काल में ब्राह्मण और शूद्र की समान प्रतिष्ठा थी। जो ब्राह्मण था, वह विचार-प्रवर्तक, तत्त्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था। जो किसान था, वह ईमानदारी से अपनी मजदूरी करता था। प्रातःकाल उठकर भगवान का स्मरण करके सूर्यनारायण के उदय के साथ खेत में काम करने लग जाता था और सायकाल सूर्य भगवान जब अपनी किरणो को समेट लेते, तब उनको नमस्कार करके घर वापस आ जाता था। ब्राह्मण में और इस किसान में कुछ भी सामाजिक, आर्थिक या नैतिक भेद नही माना

जाता था।

हम जानते हैं कि पुराने ब्राह्मण "उदर-पात्र" होते थे, यानी उतना ही सचय करते थे जितना कि पेट में अटता था। यहांतक उनका अपरिग्रही आचरण था। आज की भाषा में कहना हो तो ज्यादा-से-ज्यादा काम देते थे और बदले में कम-से-कम वेतन लेते थे। यह बात प्राचीन इतिहास से हम जान सकते हैं। लेकिन बाद में ऊंच-नीच का भेद पैदा हो गया। कम-से-कम मजदूरी करनेवाला ऊँची श्रेणी का और हर तरह की मजदूरी करनेवाला नीची श्रेणी का माना गया। उसकी योग्यता कम, उसे खाने के लिए कम, और उसकी प्रगति, ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था भी कम।

प्राचीन काल में न्यायशास्त्र व्याकरण-शास्त्र, वेदात-शास्त्र इत्यादि शास्त्रो के अध्ययन का जिक्र हम सुनते हैं। गणितशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र इत्यादि शास्त्रों की पाठशालाओं का जिक्र भी आता है। लेकिन उद्योगशाला का उल्लेख कहीं नहीं आया है। इसका कारण यह है कि हम वर्णाश्रम धर्म के माननेवाले थे। इसलिए हरएक जाति का धधा उस जाति के लोगो के घर-घर में चलता था और इस तरह हरएक घर उद्योगशाला था। कुम्हार हो या बढई, उसके घर मे बच्चो को बचपन से ही उस धधे की शिक्षा अपने पिता से मिल जाती थी। उसके लिए अलग प्रबध करने की आवश्यकता न थी। लेकिन आगे क्या हुआ कि एक ओर हमने यह मान लिया कि पिता का ही धधा पुत्र को करना चाहिए, और दूसरी ओर बाहर से आया हुआ माल सस्ता मिलने लगा, इसलिए उसीको खरीदने लगे। मुझे कभी-कभी सनातनी भाइयो से बातचीत करने का मौका मिल जाता है। मै उनसे कहता हू कि वर्णाश्रम धर्म लुप्त हो रहा है। इसका अगर आपको दु ख है तो कम-से-कम स्वदेशी धर्म का तो पालन कीजिए। बुनकर से तो मै कहूगा कि अपने बाप का धधा करना तुम्हारा धर्म है, लेकिन उसका बनाया हुआ कपडा मै नही लूगा तो वर्णाश्रम धर्म कैसे जिंदा रह सकता है ? हमारी इस वृत्ति से उद्योग गया और उद्योग के साथ उद्योगशाला भी गई। इसका कारण यह है कि हमने शरीर-श्रम को नीच मान लिया। जो आदमी कम-

से-कम परिश्रम करता है, वही आज सबसे अधिक बुद्धिमान और नीतिमान माना जाता है।

आज ही सुबह बातें हो रही थी। किसीने कहा, "अब विनोबाजी किसान-जैसे दीखते हैं", तो दूसरे ने कहा, "लेकिन जबतक उनकी धोती सफेद है, तबतक वे पूरे किसान नही हैं।" इस कथन मे एक दश था। खेती और स्वच्छ धोती की अदावत है, इस धारणा मे दश है। जो अपनेको ऊपर की श्रेणीवाले समझते है, उनको यह अभिमान होता है कि हम बडे साफ रहते हैं, हमारे कपडे बिल्कुल सफेद बगले के पर-जैसे होते हैं। लेकिन उनका यह सफाई का अभिमान मिथ्या और कृत्रिम है। उनके शरीर की डाक्टरी जाच—मैं मानसिक जाच की तो बात छोड देता हू—की जाय और हमारे परिश्रम करनेवाले मजदूरो के शरीर की भी जाच की जाय और दोनो परीक्षाओ की रिपोर्ट डाक्टर पेश करें और कह दें कि कौन ज्यादा साफ है। हम लोटा मलते हैं तो बाहर से। उसमे अपना मुह देख लीजिए। लेकिन अदर से हमें मलने की जरूरत ही नही जान पडती। हमारे लिए अदर की कीमत ही नही होती। हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है। हमें शका होती है कि खेत की मिट्टी में काम करनेवाला किसान कैसे साफ रह सकता है। लेकिन मिट्टी मे या खेत में काम करनेवाले किसान के कपडे पर जो मिट्टी का रग लगता है, वह मैल नही है। सफेद कमीज के बदले किसीने लाल कमीज पहन लिया तो उसे रगीन कपडा समझते हैं। वैसे ही मिट्टी का भी एक प्रकार का रग होता है। रग और मैल में काफी फर्क है। मैल में जतु होते हैं, पसीना होता है, उसकी बदबू आती है। मृत्तिका तो 'पुण्यगध' होती है। गीता में लिखा है, "पुण्योगध पृथिव्याच"। मिट्टी का शरीर है, मिट्टी में मिलनेवाला है। उसी मिट्टी का रग किसान के कपडे पर है। तब वह मैला कैसे है? लेकिन हमको तो बिल्कुल सफेद, कपास जितना सफेद होना है, उसमे भी बढकर सफेद कपडे पहनने की आदत पड गई है। मानो 'व्हाइट वाश' ही किया है। उसे हम साफ कहते हैं। हमारी भाषा ही विकृत हो गई है।

अपनी उच्चारण-पद्धति पर भी हमे ऐसा ही मिथ्या अभिमान है। देहाती लोग जो उच्चारण करते है, उसे हम अशुद्ध कहते है। लेकिन पाणिनि तो कहते है कि साधारण जनता जो बोली बोलती है, वही व्याकरण है। तुलसीदास ने रामायण आम लोगो के लिए लिखी है। वह जानते थे कि देहाती लोग 'ष' 'स' और 'श' के उच्चारण मे फर्क नही करते। आम लोगो की जबान में लिखने के लिए उन्होंने रामायण में सब जगह 'स' ही लिखा। वह नम्र हो गये। उनको तो आम लोगों को रामायण सिखानी थी। तो फिर उच्चारण भी उन्हीका होना चाहिए। लेकिन आज के पढे-लिखे लोगो ने तो मजदूरो को बदनाम करने का ही निश्चय कर लिया है।

हममे से कोई गीता-पाठ, भजन और जप करता है या कोई उपनिषद कठ कर लेता है, तो वह बडा भारी महात्मा बन जाता है। जप, सध्या, पूजा-पाठ ही धर्म माना जाता है। लेकिन दया, सत्य, परिश्रम मे हमारी श्रद्धा नही होती। जो धर्म बेकार, निकम्मा अनुत्पादक हो, उसीको हम सच्चा धर्म मानते हैं। जिससे पैदावार होती है, वह भला धर्म कैसे हो सकता है। भक्ति और उत्पत्ति का भी कही मेल हो सकता है? लेकिन वेद भगवान मे हम पढते है—"विश्व की उत्पत्ति करनेवालो को कुछ कृति अर्पण करो। उसने विश्व की सष्टि का रास्ता दिया, उसका अनुसरण करो। लेकिन हमारी साधु की कल्पना इससे उल्टी है। एक ब्राह्मण खेत मे खोदने का काम कर रहा है या हल चला रहा है, ऐसी तस्वीर अगर किसीने खीच दी तो वह तस्वीर खीचनेवाला पागल समझा जायगा। "क्या ब्राह्मण भी मजदूर के जैसा काम कर सकता है?" यह सवाल हमारे यहा उठ सकता है। "क्या तत्त्वज्ञानी खा भी सकता है?" यह सवाल नही उठता। वह मजे मे खा सकता है। ब्राह्मण को खिलाना ही तो हम अपना धर्म समझते हैं। उसीको पुण्य मानते हैं।

हिंदुस्तान की सस्कृति इस हद तक गिर गई, इसी कारण से बाहर के लोगो ने इन ऊपरी लोगों को हटाकर हिंदुस्तान को जीत लिया। बाहर के लोगो ने आक्रमण क्यो किया? परिश्रम से छुटकारा पाने के लिए। इसीलिए

उन्होंने बडे-बडे यत्रो की खोज की। शरीर श्रम कम-से-कम करके बचे हुए समय में मौज और आनद करने की उनकी दृष्टि है। इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरएक राष्ट्र अब यत्रो का उपयोग करने लग गया है। पहली मशीन जिसने निकाली उसकी हुकूमत तभी तक चली जबतक दूसरो के पास मशीन नही थी। मशीन से सपत्ति और सुख तभी तक मिला जबतक दूसरो ने मशीन का उपयोग नही किया था। हरएक के पास मशीन आ जाने पर स्पर्धा शुरू हो गई।

आज यूरोप एक बडा 'चिडियाखाना' ही बन गया है। जानवरो की तरह हरएक अपने अलग-अलग पिजडे में पडा है। और पडा-पडा सोच रहा है कि एक-दूसरे को कैसे खा जाऊ। क्योकि वह अपने हाथो से कोई काम करना नही चाहता। हमारे सुधारक लोग कहते है—"हाथो से काम करना बडा भारी कष्ट है, उससे किसी-न-किसी तरकीब से छूट सके तो बडा अच्छा हो। अगर दो घटे काम करके पेट भर सके तो तीन घटे क्यो करे? अगर आठ घटे काम करेगे तो कब साहित्य पढेगे और कब सगीत होगा? कला के लिए वक्त ही नही बचता।"

भर्तृहरि ने लिखा है—"साहित्यसंगीत कलाविहीन. साक्षात्पशु पुच्छ-विषाणहीन:'—जो साहित्य-सगीत-कला से विहीन है वह बिना पुच्छ-विषाण (पूछ और सीग) का पशु है। मै कहता हू—"ठीक है, साहित्य-सगीत-कला-विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है, तो साहित्य-सगीत कला-वाला पुच्छविषाणवाला पशु है।" भर्तृहरि के लिखने का मतलब क्या था यह तो मै नही जानता, लेकिन उसपर से मुझे यह अर्थ सूझ गया। दूसरे एक पडित ने लिखा है—"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'—बुद्धिमान् लोगो का समय काव्य-शास्त्र-विनोद मे कटता है। मानो उनका समय कटता ही नही, मानो वह उन्हे खाने के लिए उनके दरवाजे पर खडा है। काल तो जाने ही वाला है। उसके जाने की चिता क्यो करते हो? वह सार्थक कैसे होगा यह देखो। शरीर-श्रम को दुःख क्यो मान लिया है, यही मेरी समझ में नहीं आता। आनद और सुख का जो साधन है उसीको कष्ट

माना जाता है।

एक अमेरिकन श्रीमान् से किसीने पूछा, "दुनिया में सबसे अधिक धनवान कौन है ?" उसने जवाब दिया—"जिसकी पाचनेंद्रिय अच्छी है, वह।" उसका कहना ठीक है। सपत्ति खूब पडी है। लेकिन दूध भी हजम करने की ताकत जिसमें नही है उसको उस सपत्ति से क्या लाभ ? और पाचनेंद्रिय कैसे मजबूत होती है ? काव्य-शास्त्र से तो "कालो गच्छति"। उस से पाचनेंद्रिय थोडे ही मजबूत होनेवाली है। पाचनेंद्रिय तो व्यायाम से, परिश्रम से मजबूत होती है। लेकिन आजकल व्यायाम भी पद्रह मिनिट का निकला है। मैंने एक किताब देखी—"फिफ्टीन मिनिटस एक्सरसाइज"। ऐसे व्यायाम से दीर्घायुषी बनेंगे या अल्पायुषी इसकी चिंता ही नही होती। सैंडो भी जल्दी ही मर गया। इन लोगो ने व्यायाम का शास्त्र भी हिंसक बना रक्खा है। तीन मिनिट में एकदम व्यायाम हो जाना चाहिए। जल्दी-से-जल्दी उससे निपटकर काव्य-शास्त्र में कैसे लग जाय, यही फिक्र है। थोडे ही समय में एकदम व्यायाम करने की जो पद्धति है उससे स्नायु (मसल्स) बनते है, नसें (नव्ज) नही बनती। और अमरबेल जिस प्रकार पेड को खा जाती है, वैसे ही स्नायु आरोग्य को खा जाते है। नसें आरोग्य को बढाती है। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है उससे नसें बनती है और पाचनेंद्रिय मजबूत होती है। चौबीस घटे हम लगातार हवा लेते है, लेकिन अगर हम यह सोचने लगें कि दिनभर हवा लेने की यह तकलीफ क्यो उठायें, दो घटे में ही दिनभर की पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो, तो यही कहना पडेगा कि हमारी सस्कृति आखिरी दर्जे तक पहुच गई है। हमारा दिमाग इसी तरह से चलता है। पढते-पढते आख बिगड जाती है तो हम ऐनक लगा लेते है। लेकिन आखे न बिगडें इसका कोई तरीका नही निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड गया है, भेदभाव बढ गया है और हमपर बाहर के लोगो का आक्रमण हुआ है—इस सबका कारण यही है कि हमने परिश्रम छोड दिया है।

यह तो हुआ जीवन की दृष्टि से। अब शिक्षण की दृष्टि से परिश्रम का

विचार करना है।

हमने शिक्षण की जो नई प्रणाली बनाई है, उसका आधार उद्योग है, क्योकि हम जानते है कि शरीर के साथ मन का सबध है। आजकल मनोविज्ञान (मानसशास्त्र) का अध्ययन करनेवाले हमे बहुत दिखाई देते है। पर बेचारो को खुद अपना काम-क्रोध जीतने का तरीका मालूम नही होता। मन के बारे में इधर-उधर की किताबे पढ पढकर दो चार बातें कर सकते है। चौदह साल के बाद मनुष्य के मन में एकाएक परिवर्तन होता है इसलिए सोलह साल तक लडको की पढाई होनी चाहिए, यह सिद्धात एक मानसशास्त्री ने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, "क्या मन में परिवर्तन होने का भी कोई पर्व होता है ? हम देखते है कि शरीर धीरे-धीरे बढता है। किसी एक दिन एक-दम दो फुट ऊचा होगया हो, ऐसा नही होता। तो फिर मन मे ही एकदम परिवर्तन कैसे हो सकता है ?" बाद में मैंने उनको समझाया कि हड्डिया चौदह साल के बाद जरा तेजी से बढती है और मन का शरीर के साथ सबध होने से दिमाग भी उसी हिसाब से तेजी से विकसित होता है। शरीर और मन दोनो एक ही प्रकृति में, एक ही कोटि में आते है।

कार्लाइल एक भारी तत्ववेत्ता और विचारक था। उसके ग्रंथ पढते-पढते कई जगह कुछ ऐसे विचार आजाते थे जो मेरे विचारो से मेल नही खाते थे। शकराचार्य का जैसा सीधा, सरल विचार-प्रवाह मालूम होता है वैसा उसके लेखो मे नही दीखता। उसका चरित्र बाद मे मुझे पढने को मिला। उससे मुझे मालूम हुआ कि कार्लाइल को सिर के दर्द की बीमारी थी। तब मुझे उसके लेखन-दोष का कारण मिल गया। मैंने सोचा कि जिस समय उसका सिर दर्द करता होगा उस समय का उसका लेखन कुछ टेढा-मेढा होता होगा। योगशास्त्र में तो मन-शुद्धि के लिए प्रथम शरीर-शुद्धि बतलाई गई है। हमारे शिक्षण-शास्त्र का भी आधार यही है। शरीर-वृद्धि के साथ मनो-वृद्धि होती है। लडको की मनोवृद्धि करनी है, उनको शिक्षा देनी है, तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए।

परिश्रम से उनकी भूख बढ़ेगी । जिसको दिनभर में तीन बार अच्छी भूख लगती है उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए । भूख लगना जिंदा मनुष्य का धर्म है । जिसे दिनभर में एक ही दफा भूख लगती है, संभवत उसका जीवन अनीतिमय होगा । भूख तो भगवान् का संदेश है । भूख न होती तो दुनिया बिल्कुल अनीतिमान् और अधार्मिक बन जाती । फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अंदर न होती । किसीको भी भूख-प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कार का मौका कैसे मिलता ? सामने यह खंभा खड़ा है । इसका हम क्या सत्कार करेंगे ? इसको न भूख है, न प्यास । हमें भूख लगती है, इसलिए हमारे पास धर्म है ।

लड़कों से परिश्रम लेना है तो शिक्षक को भी उनके साथ परिश्रम करना चाहिए । क्लास में झाड़ू लगाना होता है लेकिन इसके लिए या तो नौकर रखे जाते है या लड़के झाड़ू लगाते है । शिक्षक को हम कभी झाड़ू लगाते नही देखते । विद्यार्थी क्लास में पहले आगए तो वे झाड़ू लगा लें, कभी शिक्षक पहले आया तो वह लगा ले ऐसा होना चाहिए । लेकिन झाड़ू लगाने के काम को हमने नीचा मान लिया है ! फिर शिक्षक भला वह कैसे करे ? हम लड़कों को झाड़ू लगाने का भी काम देंगे तो शिक्षक की दृष्टि से जो परिश्रम लड़कों से कराना है वह शिक्षक को पहले सीख लेना चाहिए और लड़कों के साथ करना चाहिए । मैंने एक झाड़ू तैयार की है । एक रोज दो-तीन लड़कियां वहां आई थी । तब उनको मैंने वह दिखाई और उसमें कितनी बाते भरी है यह समझाया । समझाने के बाद जितनी बाते मैंने कही वे सब एक-दो-तीन करके उनसे दोहरवा ली । लेकिन यह मैं तभी कर सका जब झाड़ू लगाने का काम मैं खुद कर चुका था । इस तरह हरएक चीज शिक्षक की दृष्टि से लड़कों को सिखानी चाहिए । एक आदमी ने मुझसे कहा 'गांधी-जी ने पीसना कातना, जूते बनाना वगैरा काम खुद करके परिश्रम की प्रतिष्ठा बढा दी । मैंने कहा ' मैं ऐसा नही मानता । परिश्रम की प्रतिष्ठा किसी महात्मा ने नही बढाई । परिश्रम की निज की ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्मा को प्रतिष्ठा दी । आज हिंदुस्तानमें गोपाल-कृष्ण की जो इतनी

प्रतिष्ठा है वह उन के गोपालन ने उन्हे दी है। उद्योग हमारा गुरुदेव है।

दुनिया की हरएक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मै धूप में घूम रहा था। चारो तरफ बडे-बडे हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मै सोचने लगा कि ऊपर से इतनी कडी धूप पड रही है, फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे है ? वे वृक्ष मेरे गुरु बन गये। मेरी समझ में आगया कि जो वृक्ष ऊपर से इतने हरे-भरे दीखते है उनकी जडे जमीन में गहरी पहुची है और वहा से उन्हे पानी मिल रहा है। इस तरह अदर से पानी और ऊपर से धूप, दोनों की कृपा से यह सुदर हरा रग उन्हें मिला है। इसी तरह हमें अदर से भक्ति का पानी और बाहर से तपश्चर्या की धूप मिले तो हम भी पेडो के जैसे हरे-भरे हो जाय। हम ज्ञान की दृष्टि से परिश्रम को नही देखते, इसलिए उसमें तकलीफ मालूम होती है। ऐसे लोगो के लिए भगवान् का यह शाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने ही वाला नही।

किताबें पढने से ज्ञान मिलता है यह खयाल गलत है। पढते-पढते बुद्धि ऐसी हो जाती है कि जिस समय जो पढते है वही ठीक लगता है। एक भाई मुझसे कहते थे, "मैंने समाजवाद की किताब पढी तो वे विचार ठीक जान पडे। बाद में गाधी-सिद्धात की पुस्तक पढी तो वे भी ठीक लगे।" मैंने विनोद में उनसे कहा, "पहली किताब दो बजे पढी होगी और दूसरी चार बजे। दो बजे के लिए पहली ठीक थी और चार बजे के लिए दूसरी।" मेरे कहने का मतलब यह है कि बहुत पढने से हमारा दिमाग स्वतत्र विचार ही नही कर सकता। खुद विचार करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। मेरी कुछ ऐसी राय है कि जब से किताबें निकली तब से स्वतत्र विचार-पद्धति नष्ट हो गई है। कुरान शरीफ में एक सवाद आया है कि मुहम्मदसाहब से कुछ विद्वान् लोगों ने पूछा, "तुम्हारे पहले जितने पैगबर आये उन सबने चमत्कार करके दिखाये। तुम तो कोई चमत्कार ही नही दिखाते, तो फिर पैगबर कैसे बन गये ?" उन्होने जवाब दिया, "आप कौन-सा चमत्कार चाहते है ? एक बीज बोया जाता है, उसमें से बडा-सा वृक्ष पैदा होता है, उसमें फूल लगते है और उनमें से फल पैदा हो जाते है। यह क्या चमत्कार नहीं है ?" यह तो एक

जवाब हो गया। दूसरा जवाब उन्होंने यह दिया कि, "मुझ-जैसा अनपढ आदमी भी आप लोगों को ज्ञान दे सकता है, यह क्या कम चमत्कार है ? आप और कौन-सा चमत्कार चाहते हैं ?" हमारे सामने की सृष्टि ज्ञान से भरी है। हम उसकी तह तक नही पहुचते, इसलिए उसमें जो आनद भरा है, वह हमें नही मिलता।

रोटी बनाने का काम माता करती है। माता का हम गौरव करते हैं। लेकिन माता का असली माता-पन उस रसोई में ही है। अच्छी-से-अच्छी रसोई बनाना, बच्चों को प्रेम से खिलाना—इसमें कितना ज्ञान और प्रेम-भावना भरी है ? रसोई का काम यदि माता के हाथो से ले लिया जाय तो उसका प्रेम-साधन ही चला जायगा। प्रेम-भाव प्रकट करने का यह मौका कोई माता छोडने के लिए तैयार न होगी। उसीके सहारे तो वह जिंदा रहती है। मेरे कहने का मतलब कोई यह न समझे कि किसी-न किसी बहाने मैं स्त्रियो पर रोटी पकाने का बोझ लादना चाहता हू। मैं तो उनका बोझ हल्का करना चाहता हू। इसीलिए हमने आश्रम में रसोई का काम मुख्यत पुरुषो से ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि जैसे रसोई का काम माता छोड देगी तो उस का ज्ञान-साधन और प्रेम-साधन चला जायगा, वैसे ही यदि हम परिश्रम से घृणा करेगे तो ज्ञान-साधन ही खो बैठेगे।

लोग मुझसे कहते है, "तुम लडकों से मजदूरी कराना चाहते हो। उनके दिन तो गुलाब के फूल-जैसे खिलने और खेलने-कूदने के है।' मै कहता हू, बिल्कुल ठीक। लेकिन वह गुलाब का फूल किस तरह खिलता है, यह भी तो जरा देखो। वह पूर्णरूप से स्वावलबी है। जमीन से सब सत्त्व चूस लेता है, खुली हवा में अकेला खडा होकर धूप, बारिश, बादल सब सहन करता है। बच्चो को भी वैसा ही रक्खो। मैं यह पसद करता हू। उनसे पूछ कर ही देखो कि फूल को पानी देने में, चद्र-कला को घटती-बढती देखने मे आनद आता है, या किताबों में और व्याकारण के नियम घोटते रहने में ? सुरगाव (वर्धा) का एक उदाहरण मुझे मालूम है। वहा एक प्राथमिक पाठशाला है। करीब ७ से ११ साल तक के लडके उसमें पढते हैं। गाववालो की राय है कि वहा का

शिक्षक अच्छा पढाता है। परीक्षा को एक या दो महीने बाकी थे, तब उसने सुबह ७ से १०॥ तक और दोपहर में २ से ५॥ तक, और रात को फिर ७ से ९ बजे तक—यानी कुल नौ घटे पढाना शुरू किया। न मालूम इतने घटे वह क्या पढाता होगा और विद्यार्थी भी क्या पढते होगे ! अगर लडके पास हो गये तो हम समझते है कि शिक्षक ने ठीक पढाया है। इस तरह ९-९ घटे पढाई करानेवाला शिक्षक लोक-प्रिय हो सकता है। लेकिन मैं तीन घटे कातने की बात कह तो कहते है, "यह लडको को हैरान करना चाहता है।" ठीक ही है। जहा बडे काम से बचने की फिक्र में हो वहा लडको को काम देने की बात भला कौन सोचे ?

फिर लोग यह पूछते है कि "उद्योग इष्ट है, यह तो मान लिया। लेकिन उससे इतना उत्पादन होना ही चाहिए, यह आग्रह क्यो ?" मेरा जवाब यह है कि "लडको को तो जब कोई चीज बनती है तभी आनद आता है। बेचारे मेहनत भी करे और उससे कुछ पैदा न हो, तो क्या इसमें उन्हे आनद आ सकता है ? किसीसे अगर कहा जाय कि 'चक्की तो पीसो, लेकिन उसमे गेहू न डालो और आटा भी तैयार न होने दो', तो वह पूछेगा, 'फिर यह नाहक चक्की घुमाने का मतलब ? तो क्या हम यह कहेगे कि भुजाए और छाती मजबूत बनाने के लिए ? ऐसे उद्योग में क्या कुछ आनद आ सकता है ? वह तो बेकार की मेहनत हो जायगी। अत उत्पादन में ही आनद है।"

इसलिए मुख्य दृष्टि यह है कि शरीर-श्रम की महिमा को हम समझें। प्राइमरी स्कूलो में हम उद्योग के आधार पर शिक्षण न देगे तो शिक्षा को अनिवार्य न कर सकेगे।

आज गाववाले कहते है कि "लडका स्कूल में पढने जाता है तो उसमें काम के प्रति घृणा पैदा हो जाती है और हमारे लिए वह निकम्मा हो जाता है। फिर उसे स्कूल क्यो भेजें ?" लेकिन हमारी पाठशालाओ में अगर उद्योग शुरू हो गया तो मा-बाप खुशी से अपने लडके को स्कूल भेजेंगे। लडका क्या पढता है, यह भी देखने जायगे। आज तो लडके की क्या पढाई हो रही है, यह देखने के लिए भी मा-बाप नही आते। उनको उसमें रस ही नही मिलता।

उद्योग के पढाई में दाखिल हो जाने के बाद इसमें फर्क पड़ेगा। गाववालो के पास काफी ज्ञान है। हमारा शिक्षक सर्वज्ञ तो नही हो सकता। वह गांव वालो के पास जायगा और अपनी कठिनाइयां उनको बतायगा। स्कूल के बगीचे में अच्छे पपीते नही लगते तो वह उसका कारण गाववालो से पूछेगा। फिर वे बतायगे कि इस-इस किस्म की खाद डालो, खाद खराब होने से पपीते में कीडे लग जाते है। हम समझते है कि कृषि कालेज में पढ़े हुए है, इसलिए हमारे ही पास ज्ञान है। लेकिन हमारा ज्ञान किताबी होता है। हम उसे व्यवहार मे नही लाते। जबतक हम प्रत्यक्ष उद्योग नही करते तबतक उसमे प्रगति और वृद्धि नही होती। अगर हम गाववालो का सहयोग चाहते हैं, उनके ज्ञान से अगर हमें लाभ उठाना है, तो स्कूल में उद्योग शुरू करना चाहिए। हमारे और उनके सहयोग से उस ज्ञान में सुधार भी होगा।

यह सब तब होगा जब हमारे शिक्षको में प्रेम, आनद और श्रम के प्रति आदर उत्पन्न होगा। हमारी नई शिक्षा-प्रणाली इसी आधार पर बनाई गई है।

: २६ :

ब्रह्मचर्य की कल्पना

यो तो हर धर्म में मनुष्य-समाज के लिए कल्याणकारी बाते पाई जाती है। इस्लाम धर्म में ईश्वर भजन है। 'इस्लाम' शब्द का अर्थ ही 'भगवान का भजन' है। अहिंसा भी ईसाई धर्म में पाई जाती है। हिंदू ऋषि-मुनियो ने परीक्षा करके जो तत्त्व निकाले है वे भी दूसरे धर्मों में पाये जाते है। लेकिन हिंदूधर्म ने विशिष्ट आचार के लिए एक ऐसा शब्द बनाया है जो दूसरे धर्मों में नही देख पड़ता। वह है 'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था हिंदू-धर्म की विशेषता है। अग्रेजी में ब्रह्मचर्य के लिए शब्द ही नही है। लेकिन उस भाषा में शब्द नही है, इसका मतलब यह नही कि उन लोगो में कोई सयमी हुआ ही

नही। ईसामसीह खुद ब्रह्मचारी थे। वैसे अच्छे-अच्छे लोग सयमी जीवन बिताते हैं, लेकिन ब्रह्मचर्याश्रम की वह कल्पना उन धर्मों में नही है जो हिंदू-धर्म में पाई जाती है। ब्रह्मचर्याश्रम का हेतु यह है कि मनुष्य के जीवन को आरभ में अच्छी खाद मिले। जैसे वृक्ष को जब वह छोटा होता है तब खाद की अधिक आवश्यकता रहती है, बडा हो जाने के बाद खाद देने से जितना लाभ है, उससे अधिक लाभ जब वह छोटा रहता है तब देने से होता है। यही मनुष्य-जीवन का हाल है। यह खाद अगर अत तक मिलती रहे तो अच्छा ही है, लेकिन कम-से-कम जीवन के आरभ-काल में तो वह बहुत आवश्यक है। हम बच्चो को दूध देते है। उसे वह अत तक मिलता रहे तो अच्छा ही है। लेकिन अगर नही मिलता तो कम-से-कम बचपन में तो मिलना ही चाहिए। शरीर की तरह आत्मा और बुद्धि को भी जीवन के आरभ काल में अच्छी खुराक मिलनी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रम की कल्पना है। ऋषि लोग जिस चीज का स्वाद जीवनभर लेते थे उसका थोडा-सा अनुभव अपने बच्चों को भी मिले, इस दयादृष्टि से उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की। लेकिन आज मै उस आश्रम के विषय मे नही बोलूगा। शास्त्र का आधार भी मुझे नही लेना है। अनुभव से बाहर के शब्दो का मुझे व्यसन नहीं।

अनुभव से मै इस निर्णय पर आया हू कि आजीवन पवित्र जीवन बिताने की दृष्टि से कोई ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहे तो ब्रह्मचर्य की अभावात्मक विधि उसके लिए उपयोगी नही होती। 'दाउ शैल्ट नाट स्टील' आज मेरे काम नही आयगा। 'सत्य वद' इस तरह की 'पाजिटिव' यानी भावात्मक आज्ञा ब्रह्मचर्य के काम मे आती है। विषय-वासना मत रक्खो, यह ब्रह्मचर्य का 'नेगेटिव' याने अभावात्मक रूप हुआ। सब इद्रियो की शक्ति आत्मा की सेवा में खर्च करो, यह उसका भावात्मक रूप है। 'ब्रह्म' यानी कोई बृहत् कल्पना। अगर मै चाहता हू कि इस छोटी-सी देह के सहारे दुनिया की सेवा करू, उसके ही काम में अपनी सब शक्ति खर्च करू, तो यह एक विशाल कल्पना हुई। विशाल कल्पना रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन आसान हो जाता

है। ब्रह्म शब्द से डरिए नही। मान लीजिए, एक आदमी अपने बच्चे की सेवा करता है और मानता है कि यह बच्चा परमात्मा-स्वरूप है, इसकी सेवा में सबकुछ अर्पण कर दूगा, और तुलसीदासजी जैसे रघुनाथजी को 'जागिए रघुनाथ कुवर' कहकर जगाते थे वैसे ही वह उस लडके को जगाता है, तो उस लडके की भक्ति से भी वह आदमी ब्रह्मचर्य पालन कर सकता है। मेरे एक मित्र थे। उन्हे बीडी पीने की आदत थी। सौभाग्य से उनके एक लडका हुआ। तब उनके मन में विचार आया कि मुझे बीडी का व्यसन लगा है, इससे मेरा जो बिगडा सो बिगडा, लेकिन अब मेरा लडका तो उससे बच जाय, मेरा उदाहरण लडके के लिए ठीक न होगा। उदाहरण उपस्थित करने के लिए तो मुझे बीडी छोड ही देनी चाहिए। और तबसे उनकी बीडी छूट गई। यही कल्पना थोडी-सी आगे बढकर देश-सेवा की कल्पना उनके मन में आती तो वह सपूर्ण ब्रह्मचर्य का आसानी से पालन कर सकते। देश की सेवा कोई ब्रह्म-भाव से करता है तो वह ब्रह्मचारी है उसमे उसे कष्ट जरूर उठाने पडेंगे। लेकिन वे सब कष्ट उसे बहुत कम मालूम होगे। माता अपने बच्चे की सेवा रात-दिन करती है। जब उसके पास कोई सेवा की रिपोर्ट मागने जायगा तो वह क्या रिपोर्ट देगी ? आर्य-समाज के सेक्रेटरी से कोई रिपोर्ट मागे तो सौ पन्ने की लबी रिपोर्ट दे देंगे। लेकिन माता इतनी सेवा करती है कि उसकी वह रिपोर्ट ही नही दे सकती। वह अपनी रिपोर्ट इस वाक्य मे दे देगी कि "मैंने तो लडके की कुछ भी सेवा नही की।' भला माता की रिपोर्ट इतनी छोटी क्यो ? इसका कारण है। माता के हृदय में बच्चे के प्रति जो प्रेम है उसके मुकाबले मे उसकी कुछ भी सेवा नही हुई है ऐसा उसे लगता है। सेवा करने में उसे कष्ट कुछ कम नही सहने पडे हैं लेकिन वे कष्ट उसे कष्ट मालूम नही हुए। इसलिए हम अपने सामने कोई बृहत् कल्पना रखेंगे तो मालूम होगा कि अभी तक तो हमने कुछ भी नही किया। इद्रियो का निग्रह करूगा, यही एक वाक्य हमारे सामने हो तो हम गिनती करने लग जायगे कि इतने दिन हुए और अभी तक कुछ फल नही दिखाई देता। लेकिन किसी बृहत् कल्पना के लिए हम इद्रिय-निग्रह करते हैं तो 'यह हम करते हैं', ऐसा 'कर्तरि प्रयोग'

नही रहता। 'निग्रह किया जाता है' ऐसा 'कर्मणि प्रयोग' हो जाता है, या यों कहिए कि निग्रह ही हमें करना है। भीष्म पितामह के सामने एक कल्पना आगई कि पिता के संतोष के लिए मुझे संयम करना है। बस, पिता का संतोष ही उनका ब्रह्म होगया और उससे वह आदर्श ब्रह्मचारी बन गये। ऐसे ब्रह्मचारी पाश्चात्यो मे भी हुए है। एक सायंटिस्ट की बात कहते है कि वह रात-दिन प्रयोग मे मग्न रहता था। उसकी एक बहन थी। भाई प्रयोग में लगा रहता है और उसकी सेवा करने के लिए कोई नही है, यह देखकर वह ब्रह्मचारिणी रहकर भाई के ही पास रही और उसकी सेवा करती रही। उस बहन के लिए 'बधु-सेवा' ब्रह्म की सेवा हो गई। देह के बाहर जाकर कोई भी कल्पना ढूढिए। अगर किसीने हिंदुस्तान के गरीब लोगोको भोजन देने की कल्पना अपने सामने रक्खी तो इसके लिए वह अपनी देह समर्पण कर देगा। वह मान लेगा कि मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह गरीब जनता का है। 'जनता की सेवा' उसका ब्रह्म हो गई। उसके लिए जो आचार वह करेगा वही ब्रह्मचर्य है। हरएक काम मे उसे गरीबो का ही ध्यान रहेगा। वह दूध पीता होगा तो उसे पीते वक्त उसके मन में विचार आ जायगा कि मै तो निर्बल हू इसलिए मुझे दूध पीना पडता है, पर गरीबो को दूध कहा मिलता है।? लेकिन मुझे उनकी सेवा करनी है, यह सोचकर वह दूध पियेगा। मगर इसके बाद फौरन ही वह गरीबो की सेवा करने के लिए दौड जायगा। बस, यही ब्रह्मचर्य है। अध्ययन करने में अगर हम मग्न हो जाय तो उस दशा मे विषय-वासना कहा से रहेगी? मेरी माता काम करते-करते भजन गाया करती थी। रसोई में कभी-कभी नमक भूल से दुबारा पड जाता था। लेकिन चित्त में मै इतना मग्न रहता था कि मुझे उसका पता ही न चलता था। वेदाध्ययन करते समय मैने अनुभव किया कि देह मानो है ही नही, कोई लाश पडी है, ऐसी भावना उस समय हो जाती थी। इसीलिए ऋषियो ने कहा है कि 'बचपन से वेदाध्ययन करो'। मैने अध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य रखा। उसके बाद देश की सेवा करता रहा। वहां भी इंद्रिय-निग्रह की आवश्यकता थी। लेकिन बचपन में इद्रिय-निग्रह का अभ्यास होगया था, इसलिए बाद मे मुझे वह

कठिन नही मालूम हुआ। मै यह नही कहता कि ब्रह्मचर्य आसान चीज है। हा, विशाल कल्पना मन में रखेंगे तो आसान है। ऊचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए सयमी जीवन का आचरण, इसको मैं ब्रह्मचर्य कहता हू।

यह हुई एक बात। अब एक दूसरी बात और है। किसी एक विषय का सयम और बाकी के विषयो का भोग, यह ब्रह्मचर्य नही है। कल मैंने देवशर्माजी की 'तरगित हृदय' नाम की पुस्तक देखी। उसमे 'जरा-सा' के विषयपर कुछ लिखा था। पुस्तक मुझे अच्छी लगी। 'इतना थोडा-सा करने से क्या होता है', ऐसा मत सोचो। बोलने मे, रहन-सहन मे हरएक बात मे सयम की आवश्यकता है। मिट्टी के बर्तन में थोडा-सा छिद्र हो तो क्या हम उसमे पानी भरेंगे ? एक भी छिद्र घडे में है तो वह पानी भरने के लिए बेकार ही है। ठीक उसी तरह जीवन का हाल है। जीवन में एक भी छिद्र नही रखना चाहिए। चाहे जैसा जीवन बिताते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे, यह मिथ्या आकाक्षा है। बातचीत, भोजन, स्वाध्याय वगैरा सभी बातो मे सयम रखना चाहिए।

: २७ :

स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा का अर्थ

अक्सर ऐसा देखा गया है कि हमारे कार्यकर्त्ताओ को ज्ञान की खुराक जितनी पहुचानी चाहिए उतनी पहुचाने की व्यवस्था हम नही करते। राष्ट्र की विशालता और प्रश्नो की जटिलता के लिहाज से हमारे पास कार्यकर्त्ता बहुत कम है और उन कार्यकर्त्ताओ के पास ज्ञान की पूजी इससे भी कम है। हमें बहुत-से कार्यकर्त्ताओ की जरूरत है। लेकिन हम सिर्फ बडी सख्या नही चाहते। अगर हमारे पास कर्त्तव्यदक्ष, चरित्रवान् और अपने कार्य की भूमिका भलीभाति समझनेवाले ज्ञानवान् कार्यकर्त्ता थोडे भी हो तो भी काम बहुत होगा।

आज से ठीक एक महीने बाद, २६ जनवरी को, हमें स्वतत्रता की प्रतिज्ञा करनी है। आजतक प्रतिज्ञा को अधिक स्पष्ट भाषा में दुहरानी है। करीब दस वर्ष से हर साल हम उसे दुहराते हैं। इतनी बडी पुनरावृत्ति का क्या प्रयोजन है, यह आप लोगो को समझाने के लिए मै उस प्रतिज्ञा का स्पष्टीकरण कर देना चाहता हू।

हम कहते हैं कि अब स्वराज्य की लडाई नजदीक आ रही है, लेकिन यह गलत है। "लडाई करीब है" कहने का मतलब यह होता है कि आज लडाई जारी नही है। यह बात सही नही है। हमारी लडाई तो निरतर जारी ही है और जारी रहनी चाहिए। हमारी लडाई का रूप एक नदी के समान है। वह निरतर बहती ही रहती है। फिर भी, उसके प्रवाह में गरमियो में और बरसात में फर्क होता है। जाडो में हम नदी का असली रूप देख पाते हैं, किंतु वह बहती तो अखड रहती है। उसी प्रकार हमारी लडाई भिन्न-भिन्न रूप लेती हुई भी नित्य जारी है। हम कार्यकर्त्ताओ की यह धारणा होनी चाहिए कि हम तो हमेशा लडाई में ही लगे हुए हैं।

जो यह मानते हैं कि अबतक हम नही लड रहे थे और अब लडनेवाले हैं उनके सामने यह सवाल पेश होता है कि अब लडाई के लिए क्या तैयारी करे? वे सोचते हैं कि अब जेल में जाना पडेगा, इसलिए अपनी आदते बदलनी चाहिए। लेकिन मैं तो कहता हू कि हमारी लडाई हमेशा जारी है। हम लडाई की आदते डाल चुके हैं। अब उन आदतो के बदलने का क्या मतलब है? अब क्या 'बिना लडाई की' आदते डालनी होगी? हमें निरतर यही भाव जाग्रत रखना चाहिए कि हमारी लडाई हमेशा जारी है।

इस साल स्वतत्रता की प्रतिज्ञा में कुछ नई बाते जोड दी गई है और उन बातो के साथ उस प्रतिज्ञा का पुनरुच्चार करने के लिए कहा गया है। लेकिन जहा श्रद्धा न हो वहा निरी दुहराने से क्या होगा? मुझे एक कहानी याद आती है। एक था साधु। उसने अपने चेले से कहा कि "राम-नाम जपने से मनुष्य हरएक सकट से पार हो सकता है।" उसके वाक्य में शिष्य को श्रद्धा तो थी, लेकिन उसे इसका पूरा-पूरा विश्वास नही था कि राम-नाम चाहे जिस

मरना ही नही चाहते। हमें फाकाकशी ही नही चाहिए, फिर उसका विशेषण कुछ भी क्यो न हो।

कुछ वक्ता जोश में आकर कह देते हैं कि "गुलामी में चाहे जितना खाने को मिले, तो भी हमें गुलामी नही चाहिए, स्वतनता चाहिए। फिर, स्वतत्रता मे हमारी चाहे जितनी भी बुरी हालत हो, भूखो भी क्यो न मरना पडे।" लेकिन उन्ही वक्ताओ से अगर आप यह पूछें कि 'अगर स्वराज्य में रेलगाडिया न हो तो ।' तब वे कहने लगते हैं कि "ऐसा स्वराज्य किस काम का ?" उनसे पूछिए कि "रेलगाडीवाली गुलामी की अपेक्षा बिना रेलगाडी वाली स्वतत्रता क्या अच्छी नही ?" लेकिन बात उनके गले नही उतरेगी। "स्वराज्य की कमी सुराज्य से पूरी नही हो सकती", यह कहनेवाले बिना रेल वाले स्वराज्य की कल्पना से भी घबराते है। तब बतलाइए कि अगर भूखो मरने की कल्पना से साधारण आदमी घबराने लगे तो क्या आश्चर्य ?

यहा मुझे कोकण की कातकरी नामक जाति के एक रिवाज की याद आती है। कातकरी अपनी जाति के मरे हुए आदमी से कहता है, "देख, अगले जनम में बामन बनेगा तो रट-रटकर मरेगा, अमुक बनेगा तो अमुक काम कर-करके मरेगा, लेकिन अगर कातकरी बनेगा तो बन का राजा बनेगा।" वह गाव की सस्कारवान् परतत्रता नही चाहता, उसे जगल की सस्कार-हीन स्वतत्रता ही प्रिय है। शहरी और बनैले चूहो की कहानी मशहूर है। बनैला चूहा कहने लगा कि "मुझे न शहर की यह शान चाहिए और न यह पराधीनता।" अगर जनता की भी यही हालत होती तो हमे सर्वत्र स्वतत्रता ही दिखाई देती। स्वतत्रता की प्रतिज्ञा तो ठेठ वेद-काल से चली आई है—

'व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये'

इस वेद-वचन में स्वतत्रता की प्रतिज्ञा व्यक्त की गई है। 'व्यचिष्ठ' का अर्थ है अत्यत व्यापक', जिसमें सबको मत-दान का अधिकार हो, और 'बहुपाय्य' से मतलब है—जिसकी बहुसख्या अल्पसख्या की रक्षा के लिए सावधान है, ऐसे स्वराज्य के लिए हम कोशिश कर रहे हैं—यह उस प्रतिज्ञा का अर्थ है। मतलब यह कि उस अत्रि ऋषि के जमाने से पडित जवाहरलाल के इस जमाने

तक वही स्वतत्रता की प्रतिज्ञा विद्यमान है। वेद की प्रतिज्ञा जैसी आप चाहते हैं ठीक वैसी ही है। उसमें भी बहुवचन का प्रयोग है।

साराश यह कि हम अपने जोशीले व्याख्यानो या कविताओ में स्वराज्य की जो व्याख्या करते हैं वह आम जनता के गले नही उतरती है। जिसमें अन्न-जल का इतजाम न हो वैसा स्वराज्य जनता नही चाहती। उसे नैमित्तिक उपवासो का अभ्यास है। एकादशी, शिवरात्री के दिन वह व्रत रखती है। लेकिन रोज का भूखो मरना वह सहन नही कर सकती। आप इसे हमारा पशुत्व भले ही कह लीजिए, लेकिन इस मानवीय पशु को पेटभर अन्न चाहिए। समाजवादियो और साम्यवादियो के कथन में यही तथ्याश (सत्य) है। हमारी भी मुख्य पुकार यही है। हम फाकाकशी नही चाहते। हमें भरपेट अन्न चाहिए। चाहे आप इसे हमारा अधिकार कहें, कर्तव्य कहें, या और किसी नाम से पुकारें। भर पेट खाने की स्वतत्रता हमें चाहिए।

हिंदुस्तान में इस प्रकार की स्वतत्रता स्थापित हो, यह हमारा प्रधान विचार है। मै स्वराज्य के विषय में विचार क्यो करता हू ? इसलिए कि हिंदुस्तान में स्वराज्य के बारे में विचार न करना महापाप है। स्वराज्य का सवाल फाकाकशी से मुक्त होनेवाला सवाल है। जैसाकि तिलक महाराज कहते थे, वह 'दाल-रोटी का सवाल' है।

कोई-कोई पूछते हैं कि अहिंसा से स्वराज्य कैसे मिलेगा ? इसकी चर्चा अगर हम आज शुरू करे तो वह स्वराज्य प्राप्ति तक खत्म नही होगी। इसलिए मैं इस फेर में नही पडता। वर्तमान यूरोप का चित्र अहिंसा का पदार्थ-पाठ है। अहिंसा के अभाव मे क्या होता है, इसका पता मौजूदा यूरोप को देखने से चलता है। छोटे-छोटे राष्ट्र तो आज कच्चे खाये जा रहे हैं। आजकल तो सभी काम बिजली के बटन की तेजी से होते हैं। पहले आदमी सौ-सौ वर्ष जीते थे, अब तडाक-पडाक मर जाते हैं। पद्रह दिन में पूरे-के-पूरे राष्ट्र गायब हो जाते हैं। पहले ऐसी बातें न किसीने देखी थी, न सुनी थी। आज तो मानो बटन दबाते ही राष्ट्र नदारद हो जाता है। चीन का कितना बडा हिस्सा जापान निगल गया है, इसका आज हमें पता ही नही। भविष्य में जब नया नक्शा तैयार होगा तब

हमें पता चलेगा। शस्त्रास्त्रो की इतनी तैयारी करने पर भी आखिर चीन की क्या हालत हुई ? फिर हिंदुस्तान-जैसा गलितकलेवर राष्ट्र शस्त्रास्त्रो से स्वराज्य कब पा सकता है ? 'यतेमहि' (कोशिश करना) तो अत्रि के जमाने से शुरू ही है। क्या उसी तरह अनत काल तक कोशिश ही करते रहे ? आज तो सबकोई लाठी में ही विश्वास करते है।

कुछ लोग मुझसे कहते है कि "तुम नए विचार नही पढते। आधुनिक विचारो के साथ परिचय नही बढाते।" सुनता हू कि ये विचार यूरोप से जहाज में आते है और बबई के बदर पर लगते है। मगर उधर से जो कुछ आता है वह सब अच्छा होता है, ऐसा तो अनुभव नही है। उधर से इन्फ्लु-एंजा की हवा आई जिससे साठ लाख आदमी चल बसे। विचारो की हवा के ये झकोरे बराए-मेहरबानी बद कीजिए। हम शिक्षा लेने के लिए किस पाठ-शाला में जाय, यह तो भी सोचने की बात है। जिस शिक्षक की पाठशाला में पाच सौ छडिया और सिर्फ दो ही चार पुस्तके हो उसकी पाठशाला में भी क्या हम जायगे ? यूरोप के लोग बहुत-सी पुस्तके लिखते है। उनके पीछे खर्च भी बहुत करते है यह मैं जानता हू। लेकिन साथ-साथ मैं यह भी तो देखता हू कि वे फौज पर पुस्तको से कितना गुना ज्यादा खर्च करते है। हमे विचार भी उसीसे ग्रहण करना चाहिए, जिसका उस विचार में विश्वास हो। शकरा-चार्य-जैसा कोई हो तो उससे हम विचार ले सकते हैं, क्योकि उसकी तो यह प्रतिज्ञा है कि, "मै विचार ही दूगा।" उससे पूछिए कि "अगर मेरी समझ में न आय तो ?" तो वह यही जवाब देगा कि "मै फिर समझाऊगा।" "और फिर समझ में न आय तो ?" "दुबारा समझाऊगा", 'और फिर भी न आया तो ?" "फिर समझाऊगा, समझाता ही जाऊगा। अत तक विचार से ही समझाऊगा।' जिसकी ऐसी प्रतिज्ञा है उस शकराचार्य से विचार सीखने को मै तैयार हू। ऐसी प्रतिज्ञा अगर कोई जर्मन या रशियन करता तो उसकी पुस्तके भी मै खरीदता। लेकिन वह सिर्फ इतना ही कहता है कि "तुम मेरी पुस्तक पढो।" और अगर हम पूछते हैं कि "हमारी समझ में न आया तो ?" तो वह जवाब देता है, "पिटोगे।" जिसका विचारों की अपेक्षा छडी में अधिक

विश्वास है उससे विचार कैसे ले ?

यूरोप की पद्धति का अनुसरण करना हिंदुस्तान के खून में ही नही है। कहा जाता है कि अंग्रेजो ने हिंदुस्तानियो के हथियार छीन लिये, यह बडा नैतिक अपराध किया है। मै भी यह मानता हू। जबर्दस्ती समूचे राष्ट्र के हथियार छीनना घोर अपराध है। लेकिन मै अपने दिल मे सोचता हू कि इन मुट्ठीभर लोगो ने उस समय के पच्चीस करोड लोगो के हथियार छीन कैसे लिये ? इन पच्चीस करोड के हाथ क्या घास खाने गये थे ? उनके हथियार मागते ही इन्होने दे कैसे दिये ?" इसका एक ही कारण हो सकता है। वे हथियार हम लोगो के जीवन के अग नही थे। अगर हमारे जीवन के अग होते तो वे छीने नही जाते। तुकाराम ने एक भले आदमी का जिक्र किया है। उसके एक हाथ में ढाल और दूसरे हाथ मे तलवार थी। बेचारे के दोनो हाथ उलझे हुए थे, इसलिए वह कोई बहादुरी का काम नही कर सकता था। वही न्याय तो यहापर भी घटित नही करना है न ? इसलिए हमारे हथियार छीन लिये गये। इसका सीधा अर्थ यही हो सकता है कि हिंदुस्तान के लोगों के स्वभाव मे हथियार नही थे। कुछ फौजी जातिया थी। दूसरे लोग भी हथियार रख सकते थे। लेकिन रखे-रखे उनपर जग चढ गया था।

लेकिन इसका यह मतलब हरगिज नही कि हिंदुस्तान के लोग बहादुर नही थे। इसका मतलब इतना ही है कि उनका हथियारो पर दारमदार नही था। हिंदुस्तान के सारे इतिहास में यह आरोप किसीने नही किया कि यहा के लोग शूरवीर नही है। सिकदर को सारी धरती नरम लगी, लेकिन हिंदुस्तान मे उसने खासी ठोकर खाई। जहा-जहा ऊट जा सकता था वहा-वहा मुसलमान मजे में चले गये। जहा खजूर और रेत थी वहा उनका ऊट बढता चला गया। लेकिन हिंदुस्तान में प्रवेश पाने में उन्हें बीस साल लगे। हिंदुस्तान बहादुर नही था, इसका इतिहास में कोई सबूत नही है।

लेकिन हमारी संस्कृति की एक मर्यादा निश्चित थी। इसीलिए हमने

पर उत्पादन का ही एक रूप समझा जाय ? हम उनसे क्या सीखें ? समाज-शास्त्र सीखें ? जिन लोगों ने पैंतीस करोड़ जनता को एक में बांध रखा वे समाजशास्त्र जानते हैं या वे, जो दो-दो, तीन-तीन करोड़ के नन्हे-नन्हें राष्ट्र बनाकर आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं ? कहा जाता है किसी जमाने में फ्रांस में एक क्रांति हुई और उससे स्वतन्त्रता, समता तथा बंधुता के सिद्धांत उत्पन्न हुए। उससे कितने ही पहले ये मुट्ठीभर पारसी इस देश में आये और हमने उनकी रक्षा की। तो क्या हम बंधुता जानते ही न थे ? ऐ यूरोप, तेरे पास ऐसा क्या है कि हम तुझसे बंधुता का पाठ पढ़ें ? तूने हमको लूटा, क्या यही तेरी बंधुता का सबूत समझा जाय ?

याद रखिए कि अगर आप हिंसा के फेर में पड़े तो इस देश के यूरोप के समान छोटे-छोटे टुकड़े होकर ही नहीं रहेंगे, बल्कि हमारी खास परिस्थिति के कारण टुकड़े भी नहीं मिलेंगे। हमारा तो चूरा ही हो जायगा।

हमारी स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा के तीन भाग हैं। पहला—**स्वतन्त्रता की आवश्यकता क्यों है, दूसरा—स्वतन्त्रता जिस मार्ग से प्राप्त करनी है उस मार्ग में श्रद्धा, और तीसरा—हमारी साधन-सामग्री अर्थात् रचनात्मक कार्यक्रम**। अबतक दो भागों का विवरण किया। अब रचनात्मक कार्यक्रम पर आता हूं।

रचनात्मक कार्यक्रम में हिंदु-मुस्लिम-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, ग्रामसेवा और खादी आदि का समावेश है।

मुख्य बात यह है कि हम सच्चे दिल से और लगन से काम करें। लोग कहते हैं, "तुम रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर देते हो, लेकिन उधर जिन्ना क्या कहते हैं, अंबेडकर का क्या कहना है, वह भी तो सुनो। उसे सुनकर गुस्सा आता है।" अंबेडकर कहते हैं कि "इन लोगों ने पूना का समझौता किया और इन्हीं बदमाशों ने उसे तोड़ दिया।" हम कहते हैं, "हमने ईमानदारी से उस समझौते पर अमल करने की कोशिश की।" पर जरा वस्तुस्थिति तो देखिए। जनता में क्या हो रहा है ? दूर की बात जाने दीजिए। सेवाग्राम और पौनार को

ही ले लीजिए। पौनार में कातने के लिए जो लडके आते हैं उनमें कुछ हरिजन लडके भी है। उनमें एक हरिजन लडके से मैंने कहा, "तू खाना पकाना जानता है ?" उसने कहा, "नही।" मैंने कहा, "हमारे यहा रसोई बनाने आया कर, हम तुझे सिखा देंगे।" वह हमारे यहा रसोई बनाने आने लगा। मैं पौनार के कुछ लोगो को न्योता देने लगा। शुरू में जो दस-पाच लोग आये वे ही आये। अब कोई नही आता। मै वहां गाय के दूध से घी बनाता हू और मट्ठा मुफ्त में बाटता हू। लेकिन मुफ्त का मट्ठा लेने के लिए भी कोई नही आता। यह हाल है !

अच्छा, हम कार्यकर्ता लोग भी लगन से काम करते हो, सो वात भी नही है। किसी कार्यकर्ता से कहा जाय कि एक हरिजन लडके को बिल्कुल अपने निज के बेटे के समान अपने परिवार में रक्खो, तो वह कहता है कि यह बात हमारी स्त्री को पसद नही है, मेरी मा तो मानेगी ही नही। "स्त्री को पसद नही है, मा मानती नही है" यह सब सही। लेकिन इसका परिणाम क्या होता है ? यही कि हम हरिजनो को दूर रखते हैं। इसलिए अबेडकर तो मुझे अवतार ही लगता है। चाहे किसी प्रकार की क्यो न हो, हरिजनो में वह चेतना तो पैदा करता है। वह हमारा भरोसा कैसे करे ? "इसे पसद नही है, यह मानता नही है", इन बातों का मूल्य हमारे नजदीक हरिजनो को अपनाने से भी अधिक है। हम कहते है, हम हरिजनो को अपने घर में नही रख सकते, हम उनके घर भोजन नही कर सकते। इस तरह हृदय से हृदय कैसे मिलेगा ?

समाजवादी कहता है, "तुम यह अस्पृश्यता-निवारण का झझट ही छोडो। गरीबी और भूख के असल सवाल को लो।" मैं कहता हू, "भाई, तुम्हारी युक्ति बडी अच्छी है, मैं उसे स्वीकार करने को भी तैयार हू। लेकिन भाई मेरे, वह काम नही आयगी। हिंदुस्तान से ज्यादा कगाल लोग दुनिया में और कहीं है ? लेकिन मेरा मुफ्त दिया हुआ मट्ठा भी सवर्ण लोग लेने को तैयार नही है। यह सवाल तुम्हारी तदबीर से हल नहीं होगा। तुम कहोगे कि अब छुआछूत कम हो चली है। रेल में, स्कूलो में

लोग छूत नहीं मानते। लेकिन इसमें तो बहुत-कुछ करामात अंग्रेजों की है। इसका यह अर्थ नहीं कि जनता ने छुआछूत मानना छोड़ दिया है।"

अश्वमेधसहस्रेण सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

(हजारों अश्वमेधों के साथ सत्य तोला गया; पाया गया कि सत्य ही श्रेष्ठ है।) हरिजनों के लिए बोर्डिंग खोलना, उन्हें छात्रवृत्तियां देना, ये सब बाह्य कृतियां अश्वमेधों के समान हैं। ऐसे हजारों अश्वमेध-यज्ञों की अपेक्षा एक हरिजन-लड़का अपने परिवार में रखना—जिस प्रेम से हम अपने कुटुंबियों से पेश आते हैं उसी प्रेम से उसके साथ व्यवहार करना—यह सत्य अधिक महत्व रखता है। हमें उसके सुख-दुःख में शामिल होना चाहिए, उन्हें अपनाना चाहिए और इस तरह उनकी स्थिति को ओढ़ लेना चाहिए।

हिंदू-मुस्लिम-एकता के सवाल से भी ऐसा ही खिलवाड़ किया जा रहा है। आज जो कुछ भी हो रहा है मैं उसे खिलवाड़ ही कहूंगा। एक कहता है, "तुम आपस में लड़ते हो, इसीलिए तुम्हें स्वराज्य नहीं मिलेगा।" दूसरा जवाब देता है, "स्वराज्य नहीं है, इसीलिए तो आपस में लड़ाई होती है।"—ऐसा तमाशा चल रहा है! जरा देहात में जाकर देखिए। वहां हिंदू-मुसलमानों में वैर नहीं है। सच पूछिए तो उनमें वैर है ही नहीं। कुछ महत्वाकांक्षी, बेकार और पढ़े-लिखे लोग दोनों को लड़ाकर खिलवाड़ करते हैं। इन लोगों के तीन विशेषण ध्यान में रखिए—पढ़े-लिखे, महत्त्वाकांक्षी, और बेकार। ये लोग हिंदू-मुसलमानों को बरबस उभाड़कर उनके झगड़ों का खिलौने की तरह उपयोग करते हैं।

इसका क्या इलाज किया जाय? इलाज एक ही है। जहां-कहीं ऐसी दुर्घटना हो जाय वहां जाकर हम अपने प्राण दे दें। यह उपाय देहात में काम नहीं आ सकता, क्योंकि दंगे वहां से शुरू नहीं होते। पढ़े-लिखे, बेकार और महत्त्वाकांक्षी लोग जहां दंगे कराते हैं—या उनके शब्दों में कहें तो 'व्यवस्था करते हैं'—वहां जाकर इसका प्रयोग करना चाहिए। इन व्यवस्थापकों ने दुनिया को परेशान कर डाला है। उनसे इतनी ही विनय है

कि "भाई यह धधा छोडो और खुद व्यवस्थित बनो।" लेकिन वे मानेंगे नहीं। इसलिए यही एक इलाज है कि जहा दगा हो जाय वहा जाकर हम अपना सिर फुडवा लें। सौ-दो-सौ शातिपरायण लोगो को ऐसे मौको पर अपने सिर फुडवा लेने चाहिए।

इन झगडो का कोई हद्दो-हिसाब ही नही। ये सिर्फ हिंदू-मुसलमानो में ही नही है। पहले ब्राह्मणेतर दल था ही। अब सुनते है, कोई मराठी-लीग भी स्थापित हुई है। भुखमरे टुकडखोरो का बाजार गर्म है। मै जब बड़ोदे में रहता था तो वहा का एक पारसी किसी त्यौहार के उपलक्ष में कभी-कभी भिखारियो को अन्न बाटता था। उन टुकडो के लिए वे आपस में लडते थे। वही हाल यहा है। सरकार से जो टुकडे मिलेंगे उन्हे ये बीच में ही हडपना चाहते हैं। हमारे तत्त्वज्ञान में मृत्यु के डर को स्थान नही है। और अब रोटियों के अभाव में भूखों मरने का भी अभ्यास हमें होगया है। इसलिए जहा दगा हो रहा हो वहा हमे शातिपूर्वक जाकर बैठ जाना चाहिए। इच्छा हो तो कातना शुरू कर देना चाहिए। इतना काफी है। हम लोगो की ऐसी धारणा है कि बिना नारियल और सिंदूर चढाये पूजा नही होती। नारियल की जगह मौसबी, नारगी, आम आदि चढाने से काम नहीं चलता। नारियल और सिंदूर ही चाहिए। इसलिए मैं कहता हू कि आप अपना सिर फुडवाकर अपना रक्त चढायें तो पूजा पूरी हो जायगी। लेन-देन के समझौते से इन झगडो का निपटारा नही होगा। न 'लेन' चाहिए, न 'देन'। मुस्लिम लीग से तसफिया कैसे किया जाय?

खादी के विषय मे भी लोग इसी तरह पूछते हैं। कहते है कि 'खादी तो ठीक है, लेकिन यह कातने की कला आप क्यों लगा रहे हैं?" मैं कहता हू कि, "क्या कष्ट? अगर कातने के लिए न कहू तो क्या मेवई बनाने के लिए कहू? आप तो कहते हैं न कि लोग भूखों मर रहे हैं? ऐसी हालत में कुछ-न-कुछ निर्माण करने की क्रिया ही राष्ट्रीय उपासना हो सकती है। इसीको आज अनुशासन कहते हैं। नही तो स्वराज्य के आदोलन में आप जनता को किस तरह शामिल करेंगे?" अगर कोई काम न हो तो सिर्फ मुस-जैसा बातूनी

आदमी ही स्वराज्य का आदोलन कर सकेगा—अर्थात् व्याख्यान दे सकेगा। लाखो, करोडो लोगो को स्वराज्य के आदोलन में सीधे शामिल होने की कोई तरकीब निकालिए। जो तरकीब निकालें वह भी ऐसी होनी चाहिए कि लोग उसे सहज में समझ ले। अखबारवालो को जब कोई बात खास तौर पर लोगो के सामने रखनी होती है तो वे एक-एक इच बडे टाइपो में शीर्षक देते हैं। यूरोप में तो अब सिर्फ शीर्षको से ही काम नही चलता, चित्र देने पडते हैं। वहा के मजदूर चित्रो पर से समाचार भाप जाते है। तात्पर्य यह कि स्थूल, स्पष्ट और लोगों का ध्यान आकृष्ट करने-लायक चीज होनी चाहिए। तभी कुछ काम होगा। खादी और चरखा लोगो की समझ में आसानी से आनेवाला अहिंसक आदोलन का प्रत्यक्ष चिह्न है। उससे सारे राष्ट्र में स्फूर्ति की आग फैल सकती है। अगर इस इमारत में कल आग लग जाय तो इसके जलने में कितनी देर लगेगी ? आप ऐसा हिसाब न लगाइए कि इसमें पहली चिनगारी लगने में चालीस साल लगे तो सारी इमारत जलने में कितने साल लगेंगे। ऐसा ऊटपटाग त्रैराशिक आप न करे। इस इमारत में आग लगने में चालीस साल भले ही लग गये हो लेकिन उसके खाक होने के लिए एक घटा काफी है। इसलिए तोते के समान क्राति के सिद्धात रटने-रटाने से काम नही चलेगा। सिर्फ तोता पढाने से राष्ट्र प्रज्वलित नही होते।

'इन्किलाब जिंदाबाद' इत्यादि कई तरह के मत्र अच्छे-अच्छे और पढे लिखे आदमी भी रास्ते पर उच्चस्वर से चिल्ला-चिल्लाकर पढते है। पढ़े लिखे लोग कहते है कि पुराने लोगो को मत्रो में बेहद विश्वास था। मेरी शिकायत यह है कि आप लोगो का विश्वास मत्रो में पुराने आदमियो की बनिस्बत कही अधिक है। स्वराज्य का मत्र आप जनता तक कैसे पहुचायगे ? इसका एक ही रास्ता है—मत्र के साथ तत्र भी चाहिए। जनता के साथ सपर्क कायम रखने के लिए मत्र की द्योतक किसी-न-किसी बाह्य कृति की जरूरत है। इतिहास में इस बात के सबूत विद्यमान् हैं कि ऐसे तत्रयुक्त मत्र से समूचे राष्ट्र प्रज्वलित हो उठते हैं।

आज हम क्या माग रहे है ? हम आज ही स्वतत्रता नही मागते। यह

'सौदा' हम आज नही कर रहे है। हम इतना ही कहते है कि आप अपनी नेक-नीयती साबित करने के लिए इतना तो करें कि हमारी विधान-परिषद् की माग मजूर कर ले।

यह विधान-परिषद् क्या है ? आप सिर्फ शब्दो से चिपके न रहिए। स्वराज्य जब मिलेगा तब मिलेगा पर शब्दो के जजाल से तो आज ही छुटकारा पाइए। विधान-परिषद की माग का इतना ही मतलब है कि हरएक बालिग व्यक्ति को मतदान का अधिकार हो, और वह किस तरह का राज्य चाहता है यह तय करने की उसे आजादी हो। अगर वह यह तय करे कि मौजूदा राज ही अच्छा है तो भी कोई हर्ज नही।

'हरिजन' मे बापू के नाम एक अग्रेज का लिखा पत्र छपा है। वह कहता है कि सब लोगो की राय लेने के झझट मे पडने के बदले सयाने लोगो की सलाह से इसका निर्णय किया जाय। उसकी बात मुझे भी जचती है। 'आदमी पीछे एक राय', यह बात तो मुझे भी बेतुकी-सी मालूम होती है। हरएक को एक ही राय क्यो ? एक ही सिर है इसलिए ? सिर की तरफ ध्यान गया, इसलिए 'फी आदमी' एक राय का नियम बना और अगर कानो की तरफ ध्यान जाता तो ? तब हरएक की दो-दो रायें होनी चाहिए, ऐसा कहते। "हरएक के दो कान होते है, इसलिए हरएक को दो रायें होनी चाहिए।" हरएक को एक ही राय का अधिकार होना चाहिए, इसका मुझे कोई सयुक्तिक कारण नजर नही आता, सिवा इसके कि हरएक के एक ही सिर होता है। क्योकि हमारा यह अनुभव है कि एक मनुष्य मे जितनी बुद्धि होती है उसकी अपेक्षा दूसरे में हजार गुनी अधिक होती है। फिर भी बापू ने उस अग्रेज सज्जन को जो जवाब दिया वह ठीक है। बापू पूछते है कि "ये सयाने लोग है कहा और उनका प्रमाण-पत्र क्या है ?" यह सवाल मुझे भी कुठित कर देता है। मैं एक सयाने को दूसरे हजार आदमियो की अपेक्षा अधिक महत्व देता हू। लेकिन इस सयानेपन का प्रमाण पत्र क्या हो ? आज तो यही परिभाषा हो गई है कि वायसराय जिसे प्रमाण-पत्र दे दें वही सयाना है। इस तरह के 'सयानो' ने *गोलमेज-परिषद् में जो फसला किया उसे दुनिया जानती है। अगर यह कहा*

जाय कि जिसे काग्रेस कहेगी वही सयाना समझा जाय, तो यह बात भी बहुत-से लोग मानने को तैयार नही हैं। हम अपने घरो में भी यही करते हैं। जब किसी एक की या किसी बुजुर्ग की बात मानने के लिए परिवार के लोग तैयार नही होते तो हम सभीकी राय ले लेते हैं। वही अब तय किया गया है। विधान-परिषद् द्वारा हम इस प्रश्न का निपटारा करनेवाले है।

कहा जाता है कि इन निरक्षर लोगो की राय लेने से काम कैसे चलेगा? मैं कहता हू कि लिखने-पढने का यह व्यर्थ बोलबाला क्यो? बिना तकलीफ के दूसरे लोगो के भेजा में ज्ञान ठस देने की आलसी लोगो की हिमाकता का नाम है लिखना-पढना। इस लिखने-पढने से बहुत नुकसान हुआ है। सेगाव के महात्मा गाधी किशोरलालभाई से कुछ कहना चाहते है तो एक पुरजे पर लिखकर बद लिफाफे में भेजते हैं। वह लिफाफा लेकर एक अनाडी आदमी किशोरलाल-भाई को दे देता है और वह बापू की बात समझ लेते हैं। बचपन में हम 'बोलती चिपटी' (टाकिंग चिप)[१] का किस्सा पढा करते थे। लोग कहते हैं कि 'देखो क्या चमत्कार है! पढने-लिखने की कला की बदौलत चिपटिया भी बोलने लगी।" मेरी यह शिकायत है कि सिर्फ चिपटिया ही बोलनेवाली नही हुई, बल्कि बोलनेवाले चिपटिया-जैसे गगे हो गये। अगर लिखने की कला न होती तो गाधीजी को अपनी जगह छोडकर किशोरलालभाई के पास जाना पडता। लेकिन हमेशा ऐसा करना मुश्किल है। इसलिए दूसरा उपाय यह करना पडता कि उन्हे अपने आसपास के लोगो को अच्छी तरह समझा-बुझाकर होशयार

---

[१] दक्षिण अफ्रीका में एक अंग्रेज को दूसरे अंग्रेज के पास एक छोटा-सा सदेश भेजना था। लिखने-लिखाने का सामान पास था नहीं। एक चिपटी (लकडी के टुकडे) पर लिखकर वहां के एक आदिमवासी को दे दिया। उसने हाथ में लेकर पूछा, "क्या कहना होगा?" साहब बोला, "यह चिपटी बोल देगी।" पानेवाले ने कहा, "ठीक है, समझ गया।" आदिमवासी ने समझा, चिपटी ने इसे बोल दिया। इससे इस 'बोलती चिपटी' पर उसे बडा अचरज हुआ।

बनाना पड़ता कि वे ठीक-ठीक संदेशा पहुचा सके। लेकिन लिखने की कला की बदौलत आदमियो का काम चिपटिया बनाने से चल सकता है। गाधीजी के पास जितने बेवकूफ आदमी रह सकते हैं उतने क्या कभी प्राचीन ऋषियो के पास रह सकते थे ? आज चिट्ठी के जरिये गाधीजी की बात बीच के आदमियो को लाघकर मेंढक के समान छलाग मारकर किशोरलालभाई के पास पहुच जाती है।"हिंदुस्तान के लोग भेड-बकरियों की भाति अपढ है, तभी तो तीन-चार लाख गोरे उनपर राज्य कर सकते है। इतनी तो भेडें भी कोई नहीं सभाल सकता।" इस तरह की बातें मै अक्सर व्याख्यानो में सुनता हू। मेरा जवाब यह है कि अगर हिंदुस्तान के लोग भेड होते तो उनकी देखभाल के लिए बहुत-से लोगो की जरूरत पडती। वे आदमी है—और जिम्मेदार और समझदार आदमी है—इसलिए उनकी राज्य-व्यवस्था के लिए बहुत आदमियो की जरूरत नहीं। ये फालतू तीन-चार लाख गोरे जब नहीं थे, तब भी उनका राज्य खूब अच्छी तरह चलता था।

यहा के लोग अपढ भले ही हो, लेकिन अजान नहीं है। हमारे यहा इसपर कभी बहस नहीं हुई कि स्त्रियो को मतदान का अधिकार हो या नहीं। यूरोप में स्त्रियों को मतदान के अधिकार के लिए पुरुषो से लड़ना पडा। हमारे यहा एनीबेसेंट और सरोजिनीदेवी का कांग्रेस का अध्यक्षपद प्राप्त करना स्वाभाविक माना गया।

मतलब यह कि यहा के लोग समझदार और अनुभवी है। पढ़े-लिखे न हो, तो भी विधान-परिषद् के लिए प्रतिनिधि चुनने के लायक हैं।

फरवरी, १९४०

: २८ :

खादी और गादी की लड़ाई

सोनेगाव की खादी-यात्रा में शिष्ट लोगो के लिए गादी (गद्दी) बिछाई गई थी। 'शिष्ट' की जगह चाहे 'विशिष्ट' कह लीजिए, क्योकि वहा जो

दूसरे लोग आये थे वे भी शिष्ट तो थे ही। उस मौके पर मुझे कहना पड़ा था कि गादी और खादी की अनबन है, दोनो की लड़ाई है और अगर इस लड़ाई में गादी की ही जीत होनेवाली हो तो हम खादी को छोड़ दें।

लोग कहते है, 'गादी की भी तो खादी बन सकती है?' हा, बन क्यों नही सकती? अगूर से भी शराब बन सकती है। लेकिन बनानी नही चाहिए और बनाने पर उसे अगूर में शुमार न करना ही उचित है।

हमें ध्यान देना चाहिए भावार्थ की तरफ। बीमार, कमजोर और बूढ़ो के लिए गादी का इतजाम किया जाय तो बात और है। लेकिन जो शिष्ट समझे जाते है उनमें से और दूसरो में फर्क करके उनके लिए भेद-दर्शक गद्दी-तकिये का आसन लगाना बिल्कुल दूसरी ही चीज है। इस दूसरी तरह की गादी और खादी में विरोध है।

वास्तव मे जो गादी हमेशा आलसी लोगो और खटमलो की सोहबत करती है उसे शिष्ट जना के लिए बिछाना उनका आदर नही बल्कि अनादर करना है। लेकिन दुर्भाग्यवश शिष्ट लोग भी इसमें अपना अपमान नही समझते। हमने तो यहातक कमाल कर दिया कि शकराचार्य की भी गद्दी बनाने से बाज नही आये। शकराचार्य तो कह गये—"कौपीनवन्त. खलु भाग्यवन्त"—"लगोटिये ही सबसे बड़भागी है।" और किसीको यह बात चाहे जचे या न जचे, कम-से-कम आचार्य के भक्तो को तो जचनी चाहिए।

राष्ट्र ऊपर उठते है और गिरते है। लेकिन आलस्य, विलासिता और जड़ता कभी ऊपर उठती ही नही। शिवाजी महाराज कहा करते थे कि "हम तो धर्म के लिए फकीर बने है।' लेकिन पेशवा तो पानीपत की लड़ाई के लिए भी सकुटुब, सपरिवार गये मानो किसी बरात मे जा रहे हो। और वहा से कार्यसिद्धि से हाथ धोकर अपना-सा मुह लेकर लौटे। गिबन ने कहा है—"रोम चढा कैसे?" "सादगी से', "रोम गिरा कैसे?" "भोग-विलास से।"

कुछ साल पहले, असहयोग के आरभ काल में, देश के युवको और बूढ़ो में

पुरुषों और स्त्रियों में, त्यागवृत्ति और वीरता का सचार होने लगा था। सत्रह-सत्रह आने गजवाली खादी—टाट-जैसी मोटी—लोग बड़े अभिमान से बेचते थे और खरीदनेवाले भी अभिमान से खरीदते थे। आगे चलकर धीरे-धीरे हम खादी का कुछ और ही ढग से गुणगान करने लगे। खादी बेचनेवाले गर्व से कहने लगे, "देखिए अब खादी मे कितनी तरक्की हो गई है। बिल्कुल अप-टू-डेट—अद्यतन पोशाक, विलासी, भडकीली, महीन, जैसी आप चाहें खादी को आप बनवा लीजिए। और सो भी पहले की अपेक्षा कितने सस्ते दामो में।" खरीदार भी कहने लगे, "खादी की प्रतिष्ठा इसी तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढे और एक दिन वह मिल के कपडे की पूरी-पूरी बराबरी करे।" लेकिन उनकी समझ में यह मोटी-सी बात न आती थी कि यदि खादी को मिल के कपडे की बराबरी करनी है तो फिर खादी की जरूरत ही किसलिए है? मिले ही क्या बुरी है? वैद्य अपनी दवाई की तारीफ करने लगा, 'बिल्कुल सस्ती दवाई है, न परहेज की जरूरत, न पथ्य की।" मरीज आगया चकमे में। लेकिन बेचारा यह भूल गया कि "पथ्य परहेज नही तो फायदा भी नही।"

कोई गलत न समझे। कहने का यह मतलब कतई नही है कि मजदूरो को पूरी-पूरी मजदूरी देकर खादी सस्ती करना हमारा कर्तव्य नहीं है। यह भी कोई नही कहता कि खादी सब लोगो की सब तरह की जरूरतें पूरी न करे। प्रश्न केवल इतना ही है कि खादी का गौरव किस बात मे है? किसीकी आखें बिगड गई हो तो उसे ऐनक जरूर देनी चाहिए। लेकिन ऐनकधारी को देख उसे 'पद्मलोचन' कहकर उसकी बडाई तो नही की जा सकती।

यहा एक प्रसग सहज ही याद आ रहा है। एक रसिक दृष्टिवाला कला-धर एक बार पढरपुर जाकर विठोबा के दर्शन कर आया। मुझसे कहने लगा "विठोबा के सार भक्त उनके रूप की प्रशसा करते नही अघाते, उनके उद्घोष (स्लोगस) सुन-सुनकर तो जी ऊब गया। लेकिन मुझे तो उस मूर्ति को देखकर कही भी सुदरता का खयाल नही आया। एक निरा बेडौल पत्थर नजर आया। मूर्तिकार और भक्तजन दोनो, मुझे तो ऐसा लगता है कि, यदृच्छा-लाभ से ही सतुष्ट हो गये। पचतत्रवाले किस्से में जिस तरह उन तीन धूर्तों ने

सिर्फ बार-बार कह-कहकर बकरे को कुत्ता बना दिया, ठीक उसी तरह इन लोगो ने चिल्ला-चिल्लाकर एक बेडौल पत्थर मे सुदरता निर्माण करने की ठान ली है।" मैंने जवाब दिया, "हा, यही बात है।" इस ससार की भीमा नदी मे गोते खानेवाला को उबारने का जिसने प्रण किया है उसे तो मजबूत, दृढ, ठोस और हट्टा-कट्टा ही होना चाहिए। वह यदि शेष-शय्या पर लेटनेवाले या पचायतन का ठाट जमाकर तसवीर खिचवाने के लिए आसन लगानेवाले देवता की सुदरता का अनुकरण करे तो क्या यह उसे शोभा देगा ?" रामदास ने सिखाया है—"मनुष्य के अतरग का शृगार है, चातुर्य, वस्त्र तो केवल बाहरी सजावट है। दोनो मे कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका विचार करो।" इसीलिए शिवाजी को हट्टे-कट्टे मावला-जैसे साथी मिले।

मेरा समाजवादी दोस्त कहेगा, "तुम तो बस वही अपना पुराना राग अलापने लगे। बस, फिर उसी दरिद्रनारायण की पूजा में मग्न हो गये। यहा दरिद्रता के पुजारी नही है। अपने राम तो वैभव के आराधक है।" मै उससे कहना चाहता हू 'मेरे दोस्त इस तरह अक्ल के पीछे लट्ठ लेकर मत पडो। हम कब दरिद्र को नारायण कहते हैं ? हम तो 'दरिद्र' को नारायण के नाम से पुकारते हैं। और 'दरिद्र' को नारायण नाम दिया, इसका यह मतलब थोडे ही है कि धनिक 'नारायण' नही हो सकता। यदि मैं कहू कि 'मैं ब्रह्म हू' तो इसका यह अर्थ थोडे ही है कि 'तुम ब्रह्म नही हो?' बस, अब तो सतोष हुआ ? दरिद्र भी नारायण है और श्रीमान् भी। दरिद्रनारायण की पूजा उसकी दरिद्रता दूर करने से पूरी होती है और श्रीमन्नारायण की पूजा उसे सच्चे ऐश्वर्य का अर्थ समझकर उसका त्याग करवाने से होती है और जब किसी मूर्ख-नारायण से पाला पडे तो उसकी पूजा इस प्रकार विश्लेपण करके समझाने से होती है। क्यो ठीक है न ?"

लेकिन, इस यथार्थ विनोद को जाने दीजिए। अगर समाजवादी दोस्त को वैराग्य नही सुहाता तो वैभव ही सही। वैभव किसे कहना चाहिए और यह कैसे प्राप्त किया जा सकता है इन बातो को भी रहने दीजिए। लेकिन समाज कम-से-कम साम्यवादी तो है न ? दो-चार आदमियो को नरम-नरम गादी

मिले और बाकी सबको टाट के चीथडे या धूल नसीब हो, वह तो उसे नही भाता न ? जब मैने खादी और गादी की लडाई की बात छेडी तो मेरे मन में यह अर्थ भी तो था ही। सब लोगो के लिए गादी लगाई गई होती तो दूसरा ही सवाल खडा होता। लेकिन यह मुमकिन नही था। और मुमकिन नही था इसीलिए मुनासिब भी नही था, यह ध्यान में आना जरूरी था।

आजकल हमारे कुछ दोस्तो में एक ओर साम्यवाद और दूसरी ओर विषम व्यवहार का बडा जोर है। साम्यवाद और विषम व्यवहार बडे आनद से साथ-साथ चल रहे हैं। फैजपुर के बाद हरिपुरा की काग्रेस ने विषमता की दिशा में एक कदम और आगे बढाया। अध्यक्ष, विशिष्ट पुरुष, बडे नेता, छोटे नेता, प्रतिनिधि, माननीय दर्शकगण और देहाती जनता—इन सबके लिए वहा दर्जेवार प्रबध किया गया था। गाधीजी के लिए यह दारुण दु ख का विषय था, यह बातें जाहिर हो चुकी है। यह विषम व्यवहार खास मौको पर ही होता हो, सो बात भी नही। हमारे जीवन और मन में उसने घर कर लिया है। "मजदूरो को पूरा-पूरा वेतन दिया जाना चाहिए या नही", इस विषय पर बहस हो सकती है, पर, "व्यवस्थापको को पूरा वेतन दिया जाय या नही", इसकी बहस कोई नही छेडता। जिन्हे हम देहात की सेवा के लिए भेजते है उन्हें अपना रहन-सहन ग्राम-जीवन के अनुकूल बनाने की हिदायतें देते हैं। उन्हे देहात में भेजने और हिदायतें देने को तो हम तैयार रहते हैं, लेकिन हमें इस बात की तो क्या, तनिक भी अनुभूति नही होती कि स्वय हमको भी अपनी हिदायतो के अनुसार चलने की कोशिश करनी चाहिए। साम्य की भेद से दुश्मनी है, लेकिन विवेक से तो नही है ? इसीलिए बूढो के लिए गादी हमने मजूर कर ली है। इसी तरह देहात की सेवा के लिए जानेवाले युवक कार्यकर्ता और उन्हे वहा भेजनेवाले बुजुर्ग नेताओ के जीवन में थोडा बहुत फर्क होना न्याय-सगत है और विवेक उसे मजूर करेगा। इसीलिए साम्य-सिद्धातो को भी उसके खिलाफ कोई शिकायत नही रहेगी। लेकिन आज जो फर्क पाया जाता है वह थोडा-बहुत नही है। अक्सर वह बहुत मोटा, नजर में सहज ही आनेवाला ही नही, बल्कि चुभनेवाला होता है। इस विषम

वभव का नाम गादी है। और इस गादी से खादी की दुश्मनी और लडाई है।

हाल ही में आश्रम में एक बात की चर्चा हो रही थी। आश्रम की आबादी बढ रही है, इसलिए जब नई जगह मोल लेकर ग्राम-रचना-शास्त्र के अनुसार व्यवस्थित नकशा बनाना चाहिए। बुनकर, कातनेवाले, बढई आदि मजदूर और व्यवस्थापक-वर्ग, परिवार, दफ्तर के कार्यकर्ता, आश्रमवासी, मेहमान आदि के लिए किस प्रकार के मकान बनवाने चाहिए, यह मुझसे पूछा गया। पूछनेवाला खुद साम्यपूजक तो था ही, और मैं साम्यवादी हू यह भी जानता था। मैंने कुछ मन-ही-मन और कुछ प्रकट रूप में कहा—"मैं दाल हजम *नही कर सकता, इसलिए दही खाता हू। मजदूर को दही का शौक तो है,* लेकिन वह दाल हजम कर सकता है। इसलिए दाल से काम चला लेता है? इतनी विषमता तो हम विवेक की दुहाई देकर हजम कर गये। लेकिन क्या हमारे लिए मकान भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होना जरूरी है? जिस तरह मकान में मजदूर अपनी जिंदगी बसर करता है, उसी तरह का मकान मेरे लिए भी काफी क्यो नही हो सकता? या फिर, उसका भी मकान मेरे मकान के समान क्यो न हो?"

आप चाहे वैराग्य का नाम ले चाहे वैभव का, विषमता को बर्दाश्त हरगिज न कीजिए। इसीका नाम है "आत्मौपम्य"। सच्चा साम्यवाद यही है। उसपर तुरत अमल किया जाना चाहिए। साम्यवाद का कोई महत्व नही है; महत्व है "तत्काल साम्यवाद" का। साम्यवाद को तुरत कार्यान्वित *करने की सिफत का नाम अहिंसा है। अहिंसा हरएक से कहती है कि "तू* अपने-आपसे प्रारभ कर दे तो तेरे लिए तो आज ही साम्यवाद है" अहिंसा का चिन्ह है खादी। खुद खादी ही अगर भेदभाव सहे, तब तो *यही कहना होगा* कि उसने अपने हाथो अपना गला घोट लिया।

इस सारे अर्थ का संग्राहक सूत्र-वाक्य है—खादी और गादी में लड़ाई है।

करने के खयाल से बोता है। वह उसे बड़ी सावधानी से बोता है। घर के दाने खेत में बोता है। उन्हें चाहे जैसे बेतरतीब बखेर नहीं देता। घर के दाने तो कम थे, लेकिन यहां खेत में वे सौ गुने बढ़ गये। दान-क्रिया का भी यही हाल है। जिसे हमने मुट्ठी-भर दाने दिये, क्या वह उनकी कीमत बढ़ायेगा? क्या वह, उन दानों की अपेक्षा सौ गुने मूल्य का कोई काम करेगा? दान करते समय लेनेवाला ऐसा ढूंढिए जो उस दान की कीमत बढ़ाए। हम जो दान करें वह ऐसा हो जिससे समाज को सौ गुना फायदा पहुंचे। वह दान ऐसा हो जो समाज को सफल बनाये। हमें यह विश्वास होना चाहिए कि उस दान की बदौलत समाज में आलस्य, व्यभिचार और अनीति नहीं बढ़ेगी। आपने एक आदमी को पैसे दिये, दान दिया और उसने उनका दुरुपयोग किया, उस दान के बलपर अनीतिमय आचरण किया, तो उस पाप की जिम्मेदारी आपपर भी है। उस पापमय मनुष्य से सहयोग करने के कारण आप भी दोषभागी बनें। आपको यह देखना चाहिए कि हम असत्य, अनीति, आलस्य, अन्याय से सहयोग कर रहे हैं या सत्य, उद्योग, श्रम, लगन, नीति और धर्म से। आपको इस बात का विचार करना चाहिए कि आपके दिये हुए दान का उपयोग होता है या दुरुपयोग। अगर आप इसका खयाल न रखेंगे तो आपकी दान-क्रिया का अर्थ होगा किसी चीज को लापरवाही से फेंक देना। हम जो दान देते हैं उसकी तरफ हमारा पूरा-पूरा ध्यान होना चाहिए। दान का अर्थ है बीज बोना। आपको यह देखना चाहिए कि यह बीज अंकुरित होकर इसका पौधा बढ़ता है या नहीं।

तगड़े और तंदुरुस्त आदमी को भीख देना, दान करना अन्याय है। कर्महीन मनुष्य भिक्षा का, दान का, अधिकारी नहीं हो सकता।

भगवान् का कानून है कि हरएक मनुष्य अपनी मेहनत से जिये। दुनिया में बिना शारीरिक श्रम के भिक्षा मांगने का अधिकार केवल सच्चे सन्यासी को है। सच्चे सन्यासी को—जो ईश्वर-भक्ति के रंग में रंगा हुआ है ऐसे सन्यासी को—ही यह अधिकार है। क्योंकि ऊपर से देखने में भले ही ऐसा

मालूम पड़ता हो कि वह कुछ नही करता, फिर भी दूसरी अनेक बातो से वह समाज की सेवा किया करता है। पर ऐसे सन्यासी को छोड़कर और किसी-को भी अकर्मण्य रहने का अधिकार नही है। दुनिया में आलस्य बढाने-सरीखा दूसरा भयकर पाप नहीं है।

आलस्य परमेश्वर के दिये हुए हाथ-पैरो का अपमान है। अगर कोई अधा हो तो उसे रोटी तो मुझे देनी चाहिए लेकिन उसको भी सात-आठ घटे काम दूगा ही। उसे कपास लोढने का काम दे दूगा। जब एक हाथ थक जाय तो दूसरे हाथ काम में लाये और इस तरह वह आठ घटे परिश्रम करे और मेहनत की रोटी खाये। अधे, लूले और लगड़े भी जो काम कर सके वह काम उनसे कराके उन्हे रोटी देनी चाहिए। इससे धर्म की पूजा होती है और अन्न की भी। इसलिए जिसे आप दान देते है वह कुछ समाज-सेवा, कुछ उपयोगी काम करता है या नही, यह भी आपको देखना चाहिए। उस दान को बोया हुआ बीज समझिए। समाज को उसका पूरा-पूरा बदला मिलना जरूरी है। अगर दाता अपने दान के विषय में ऐसी दृष्टि नही रखेगा तो वह दान धर्म के बदले अधर्म होगा। अविवेक या निरी लापरवाही का काम होगा।

हर किसीको कुछ-न-कुछ दे देने से, भोजन कराने से, बिना विचारे दान-धर्म करने से अनर्थ होता है। अगर कोई गोरक्षिणी या गोशाला को कुछ देना चाहता है तो उसे देखना चाहिए कि क्या उस गोशाला से अधिक दूध वाली गायें निकलनेवाली है? क्या वहा गायो की नस्ल सुधारने की भी कोशिश होती है? क्या बच्चो को गाय का सुदर और स्वच्छ दूध मिलता है? क्या वहा से अच्छी-अच्छी जोड़िया खेती के लिए मिलती है? क्या गोरक्षा और गोवर्धन की वैज्ञानिक छानबीन वहा होती है? जहा मरियल गायो की भरमार है, बेहद गदगी से सारी हवा दूषित हो रही है, ऐसे पिंजरा-पोल रखना दान धर्म नहीं है। किसी भी सस्था या व्यक्ति को आप जो कुछ देते है उससे समाज को कहातक लाभ होता है, यह आपको देखना ही चाहिए। हिंदुस्तान में दान-वृत्ति तो है, लेकिन उसमें विवेक विचार न होने

के कारण समाज समृद्ध और सुदर दिखने के बजाय आज निस्तेज, दबा हुआ और रोगी दिखाई देता है। आप पैसे फेकते है, बोते नही है। इससे न इहलोक बनता है, न परलोक, यह आप न भूले।

दान का भी एक शास्त्र है। वह कोई विवेकशून्य क्रिया नही है। खादी पहनकर हम इस दान-धर्म को बडे उत्कृष्ट ढग से सफल कर सकते है। मै यह आपको समझा दूगा। आपकी बुद्धि में न्याय-सगत जचे तभी आप इसे माने। आप लोगो मे बहुतेरे व्यापारी है। और व्यापारी तो बडे हिसाबी होते है। मुझे हिसाबी आदमी बहुत पसद है। हिसाबी वृत्ति का अर्थ है हरएक वस्तु की उपयोगिता देखना। यह आध्यात्मिक चीज है। साधु-सतो की ऐसी कई कथाए है कि वे एक-एक पाई के हिसाब के लिए रातभर जागते रहे। परमार्थ का मतलब है बहुत उत्कृष्ट हिसाब। परमार्थ के मानी बावलापन नही है। परमार्थ बहुत श्रेष्ठ व्यापार है। उसका अर्थ है हरएक क्रिया की ओर विचारपूर्वक देखना। मैं आज आप लोगो को जमा-खर्च लिखना सिखानेवाला हू। आप कहेगे, "लीजिए, यह बाबाजी अब हमें हिसाब रखना सिखायगे ? यहा तो सारी उम्र जमा-खर्च मे ही गुजरी है।" लेकिन मैं फिर साफ-साफ कहता हू कि आप जमा-खर्च नही जानते। यह आपको मुझसे सीखना चाहिए।

लोग कहते है कि खादी महगी होती है। मैंने दोपहर को कुछ मित्रो को हिसाब करके दिखा दिया कि वह महगी नही है। उन्होने मुझे आंकडे बतलाये। साल में अगर मिल का कपडा १०) का खरीदना पडे तो उतनी ही खादी के दाम १५) हो जाते है। मतलब यह कि हर महीने साढे छ आने ज्यादा देने पडते है। यानी हर रोज करीब ढाई पाई, अर्थात् लगभग कुछ नही। जो जनता स्वराज्य प्राप्त करना चाहती है वह अगर रोज ढाई पाई भी न दे सकती हो और पाच तोले अधिक वजन होने के कारण खादी न बरत सकती हो, तो वह साफ शब्दो में यही क्यो नही कह देती कि हमें न स्वराज्य की चाह है और न स्वतत्रता की। लेकिन इसे जाने दीजिए। मै दूसरी ही बात कहूगा। आप जब मिल का कपडा खरीदते है तो १०) कपडे खाते खर्च

लिखते हैं और खादी खरीदते हैं तो लिखते हैं १५) कपड़े-खाते नाम। लेकिन मैं कहता हूं कि खादी का हिसाब लिखने में आपको १५) खादी-खाते खर्च नहीं लिखना चाहिए। १५) के दो भाग कीजिये। १०) का कपड़ा और ५) दान-धर्म, कुल मिला कर १५) इस तरह हिसाब लिखिए। आपको जो ५) अधिक देने पड़े वे दूर रहनेवाले श्रमिकों को मिले। यह वास्तविक दान-धर्म है। खादी कितने लोगों को आश्रय दे सकती है, इसका विचार कीजिए। हमारे देश की मिलें तिहाई हिंदुस्तान के कपड़ों की जरूरत पूरी करती है। अगर हम यह समझ लें कि उनमें पांच लाख मजदूर काम करते हैं तो हिंदुस्तान की मिलों का कपड़ा खरीदने से पांच लाख मजदूरों को रोजी मिलती है। सारे हिंदुस्तान की जरूरत पूरी करने लायक कपड़ा तैयार करने का वे इरादा कर लें तो १५ लाख मजदूरों को काम मिलेगा। परन्तु खादी ?—खादी करोड़ों मजदूरों को काम दे सकती है। अगर हम विलायती कपड़ा बिल्कुल न खरीदें तो मिल के जरिये १५ लाख मजदूरों को काम दे सकते हैं। लेकिन अगर खादी मोल लें तो करोड़ों मजदूरों को काम दे सकते हैं। खादी न खरीदना करोड़ों लोगों के मुंह का कौर छीन लेने के बराबर है। आधुनिक अर्थ-शास्त्र का सबसे बड़ा सिद्धांत यह है कि संपत्ति का जितना वितरण हो उतना ही समाज का कल्याण होगा। किसी एक के पास दौलत न रहने पाय, वह बंट जानी चाहिए। यह बात खादी के द्वारा ही हो सकती है। मिल का पैसा मिल-वाले और उनके हिस्सेदारों की जेब में जाता है। खादी के द्वारा उसका वितरण होता है। आना-आना, आध-आध आना उन गरीबों को मिलेगा जो सारे देश में फैले हुए हैं। रत्ती-रत्ती या पाई-पाई का ही फायदा क्यों न हो, लेकिन सबका होगा, जैसे वृष्टि की बूंदें होती हैं। किसी नल की धार कितनी ही मोटी और वेगवती क्यों न हो, वह एक ही जगह बड़े जोर से गिरती है, सारी पृथ्वी को हरियाली से सुशोभित करने की शक्ति उसमें नहीं है। वर्षा रिम-झिम-रिमझिम पड़ती है, लेकिन वह सर्वत्र पड़ती है, मिट्टी के कण-कण को वह अलंकृत करती है। सूर्य का प्रकाश, हवा, वर्षा, ये सब परमात्मा की ऐसी महान् देनें हैं जो सबको मिलती हैं। खादी में भी यही खूबी है। जो दैवी गुण, जो

व्यापकता सृष्टि में है, वही गादी में भी है।

हमारे शास्त्रकारो ने दान की व्याख्या ही "दानं संविभाग." की है। दान का अर्थ है जो एक जगह इकट्ठा हो उसे सर्वत्र सम्यक् बाट देना। यह क्रिया खादी के द्वारा ही सम्पन्न होती है। महाभारत में अर्थशास्त्र का एक महान नियम बताया गया है, व्यापक और सनातन अर्थशास्त्र के स्वरूप का वर्णन किया गया है। "दरिद्रान् भर कौन्तेय, मा प्रयच्छेश्वरे धनम्"—"जो महेश्वर हैं, श्रीमान् हैं, उसे दान न दो, बल्कि जो दरिद्री हैं, उसकी जरूरत पूरी करो।" श्रीमानो के भरण की जरूरत नही है, जो दरिद्री है उनके पेट के गढे को पाटना है। उनको भर दो। यह सनातन सत्य है। आप जरी की शाल या मिल का कपडा खरीदते हैं तो पैसा श्रीमान् की तिजोरी में जाता है। जो गले तक ठूस चुका है और खा-खाकर ऊब गया है, उसीको आपने फिर रबडी खिला दी। यह तो अधर्म हुआ, अन्याय हुआ। परतु यदि आपने खादी खरीद ली तो वह धेला-पैसा दरिद्रनारायण के घर में जायगा। महाभारत और शास्त्रकार यही तो कहते हैं।

कोई-कोई कहते हैं खादी मे कला नही है। उसमें तरह-तरह के रग नही हैं। जो ऐसा कहते हैं, वे कला का अर्थ ही नही समझते। मैं भी कला की कद्र करनेवालो में से हू। एक बार मैं अपने एक मित्र के घर गया। वह मित्र पैसे-वाला था। उसने पचास रुपये में एक सुदर चित्र खरीदा था। उस चित्र के रग वह मुझे दिखा रहा था। एक जगह बहुत ही सुहावना गुलाबी रग था। उसे दिखाकर वह बोला "कैसा सुदर है? क्यो!" मैंने जवाब दिया, "ऊऽऽहूऽ"। उसने कहा, 'शायद आपको चित्र-कला में रुचि नही है?" मैंने उससे कहा, "भलेमानस, मुझे चित्र-कला में खूब रुचि है। सुदर चित्रो के देखने मे मुझे अपार आनद आता है। लेकिन सुदर चित्र ही नही है! मुझे चित्र-कला से प्रेम है, उच्च चित्र कला की मैं कद्र करता हू। तुम्हारी अपेक्षा मुझे चित्र-कला का ज्ञान अधिक है मैं उसका मर्म समझता हू। इस चित्र का वह गुलाबी रग सुदर है। लेकिन मै तुमसे दूसरी ही बात कहना चाहता हू। इस चित्र के तुमने पचास रुपये दिये। जरा हरिजनो की बस्ती में जाकर देखो। वहा तुम फीके

चेहरेवाले बच्चे पाओगे। रोज सवेरे जाओ, पद्रह मिनट चलना पडेगा। रोज एक सेर दूध लेकर जाया करो। फिर एक महीने बाद उन लडको के मुह देखो। उन स्याह और फीके रगवाले चेहरो पर गुलाबी रग आ जायगा। खून की मात्रा बढने से चेहरे पर लाली आ जायगी। अब तुम्ही बतलाओ, इस निर्जीव चित्र में जो गुलाबी रग है वह श्रेष्ठ है या वह जो उन जीवित चित्रो मे दिखाई देगा ? वे बालक भी इस चित्र-जैसे सुदर देख पडेंगे ! मेरे भाई, ये जीवित कला के नमूने मरते जा रहे है। इन निर्जीव चित्रो को लेकर उपासक होने की डीग मारते हो और इस महान् दैवी कला को मिट्टी मे मिलने देते हो !" इसी प्रकार का विचार यहा भी हो रहा है। खादी के द्वारा आप वास्तविक कलापूजक बनेंगे, क्योकि दरिद्रनारायण के चेहरे पर ताजगी, सुर्खी ला सकेंगे। समाज में जो भाई मरणोन्मुख हैं, उन्हे जिलाकर समाज में दाखिल करा सकेंगे। इससे बढकर कला कौन-सी हो सकती है ?

खादी के द्वारा द्रव्य का वितरण होता है। वह अत्यत मोहताज, मेहनती और दरिद्र मजदूरो को मिलता है। खादी द्वारा कला की—जीवित कला की उपासना होती है। ईश्वर के बनाये जीवित चित्रो को न कोई धोता है, न पोछता है और न सजाता है ! उधर निर्जीव चित्रो को सुदर-सुदर चौखटो से सजाते हैं, लेकिन इधर दरिद्र बालको के शरीर पर न कपडे है, न पेट में अन्न। ये दिव्य चित्र खादी के द्वारा चमकेंगे।

इतना ही नही, खादी में और भी कई बाते है। सबसे श्रेष्ठ दान कौन-सा है ? सभी धर्मों में बार-बार एक ही बात कही गई है—गुप्तदान श्रेष्ठ है। बाइबिल में कहा है, "तुम्हारा दाहिना हाथ जो देता हो उसे बाया हाथ न जानने पाय।" सब धर्म-ग्रथो की यही सिखावन है। खादी के द्वारा यह गुप्त-दान होता है। यही नही, बल्कि खुद दाता भी यह नही जानता कि मैं दान कर रहा हू और न लेनेवाले को इसका पता होता है कि मैं दान ले रहा हू। खरीदार कहता है, मैंने खादी खरीदी। जिस गरीब को पैसे मिलते हैं वह सोचता है, मैंने अपने श्रम का मेहनताना लिया। इसमें किसीको दबैल बनने की जरूरत नहीं, फिर भी इसमें दान तो है ही। दान तो वही है जो किसी

को दीन नही बनाता। दया या मेहरबानी से जो हम देते है उसके कारण दूसरे की गर्दन झुकाते है। समाज में दो तरह के पाप हैं। एक की गर्दन जरूरत से ज्यादा तनी हुई—घमण्ड के कारण तनी हुई, और दूसरे की जरूरत से ज्यादा झुकी हुई—दीनता से झुकी हुई होती है। ये दोनो पाप ही हैं। एक उन्मत्त और दूसरा दबैल तथा दुर्बल। गर्दन सीधी हो और लचीली भी हो। लेकिन न तनी हुई हो, न झुकी हुई। कर्मशून्य मनुष्य को बडी शान से जब हम प्रत्यक्ष दान देते है तब हम तो अपनी शान और मिजाज मे मस्त होते है और वह मगन दीन होता है। पाप दोनो तरफ है। खादी में गुप्तदान सिद्ध होता है। हमारे दिल में तो दान की भावना भी नही होती, फिर भी दूसरे को मदद तो पहुचती ही है। दान देनेवाले और लेनेवाले ने एक-दूसरे को देखा तक नही। लेकिन वास्तविक धर्म पर अमल हो रहा है।

आजकल हम गुप्तदान की महिमा भूल गये है। यह विज्ञापन का युग है। मेरी मा मुझे वर्तमान गुप्तदान की पोल बताया करती थी। लड्डू के अदर चवन्नी या दुअनी रख दी जाती है, लेकिन पडितजी से धीरे-से कह दिया जाता है, "जरा धीरे-धीरे चबाइए, अदर चवन्नी है।" गुप्तदान देने के लिए लड्डू में चवन्नी रख दी जाती है, लेकिन अगर पडितजी को सतर्क न किया जाय तो बेचारे के दातो पर आफत आजाय। मतलब, फिर वह दान गुप्त तो नही रहेगा, किसी-न किसी बहाने प्रकट होगा ही। आजकल समाज में दानी लोग अपना नाम खुदवाते है। पैसे देते और कहते है, "हमारा नाम दे दीजिए।" यह अध पतन है। मुझसे एक बार एक श्रीमान कहने लगे, "मुझे कुछ रुपये देने है।" मैंने कहा, "बहुत अच्छा, लाइए।" उन्होने कहा, "उस इमारत में मेरा नाम दे दीजिए।" मैंने जवाब दिया, "आपके रुपये मुझे नही चाहिए। इस प्रकार का दान लेने में मुझे आपकी आत्मा का घोर अपमान करने का पाप लगेगा। आप खुद अपनी आत्मा का अपमान करने पर उतारू होगये है, पर मैं उसमें हाथ बटाना नही चाहता। यह पाप है और आपको समझाना मेरा काम है।" इसमें आत्मा का कितना बडा अपमान है! क्या आप अपनी इच्छाओ को, अपनी अनत आत्मा को उन पत्थरो में बँद करना चाहते है?

इसीलिए हमारे पूर्वजो ने गुप्त दान की शिक्षा दी। आजकल के दान दरअसल दान ही नही है। आपने पैसे देकर इमारत पर अपना नाम खुदवाया। इसका मतलब तो यही हुआ कि आपने अपने हाथो अपनी कब्र बनवा ली, आपने खुद अपनी बडाई करवा ली। इसमे दान क्या किया ? गुप्तदान बहुत ही पूजनीय वस्तु है। मैंने आपसे कहा कि खादी खरीदने में १०) खादी खाते और ५) दान-धर्म खाते आप लिखें। यह जो साल भर मे दान-धर्म होगा वह गुप्त होगा। यह गुप्तदान देते हुए आपको यह गर्व न होगा कि मै बडा उपकार कर रहा हू, और जिस गरीब को दो-चार आने मिलेगे उसे भी किसीके दरवाजे पर जाकर "बाबा, एक मुट्ठी" कहने के बजाय, "मै अपनी मेहनत का खाता हू," यह अभिमान होगा। यह गुप्तदान का महान् धर्म भी खादी खरीदने से सिद्ध होगा। दूसरे दानो की जरूरत ही न रहेगी। असल में वह दान ही नही है। दान वही है जो दूसरो को स्वाभिमान सिखायें। खादी खरीदने में जो मदद पहुचेगी, जो गुप्तदान दिया जायगा, उसकी बदौलत मजदूरो को देहात मे ही काम मिलेगा, उन्हे अपना घर-बार छोडना न पडेगा। देहात की खुली हवा में वे रह सकेगे। देहात छोडकर शहर में आने पर वे कई बुरी आदतो और ऐबो के शिकार बन जाते है। और उनके चरित्र तथा स्वास्थ्य का नाश होता है, सो न होगा, देहातियो के शरीर और मन नीरोग और निरालस रहेगे। मतलब, खादी के द्वारा जो दान होता है, उससे समाज में कितना कार्य हुआ, यह देखना चाहिए। आदमियो के शरीर और हृदय--उनकी शारीरिक शक्ति और चरित्र शुद्ध रखने का श्रेष्ठ उद्देश्य खादी द्वारा सफल होता है। इसीका नाम है बीज बोना। यही वास्तविक दान है, गुप्तदान है, संविभाग है, जीती-जागती और खेलती हुई कला निर्माण करनेवाला दान है।

"दरिद्रान् भर कौन्तेय", "दानं संविभाग:", इन सूत्रो को आप न भूले। आपके श्रेष्ठ पूर्वजो को यह दान-नीति है। जो अनीति और आलस को बढाता है, वह दान ही नही है। वह तो अधर्म है। उस दान को देनेवाला और लेनेवाला दोनो पाप के हिस्सेदार होते है। दोनो 'अवसि नरक-अधिकारी' है। इसलिए विवेक की आख खुली रखकर दान कीजिए। यही कर्म-कुशलता

है। आप दया-धर्म का पालन करते हैं। हृदय के गुण की तो रक्षा की, लेकिन बुद्धि के गुण का नाश किया। बुद्धि और हृदय का जब बिलगाव होता है तो अनर्थ होता है। हृदय कहता है "दया करो, दान करो।" लेकिन "दया किस प्रकार करे, दान कैसे करे" यह तो बुद्धि ही सिखाती है, विचार ही बतलाता है। जहा बुद्धि और हृदय का सयोग होता है, वही योग होता है। ज्ञान और बुद्धि की एकता का ही नाम योग है। यही कर्म-कुशलता है। आज दान महज एक रूढि है। जब आचार में से विचार निकल जाता है तो निर्जीव रूढि ही बाकी रह जाती है। इसलिए विवेकयुक्त दान-धर्म सीखिए। दान-जैसी कोई चीज स्वतत्र ही नही रह जानी चाहिए। इस प्रकार के गुप्तदान समाज के नित्य के व्यवहार में हुआ करते है। खादी के द्वारा इसका पालन कैसे होता है, यह मैने दिखा दिया। अगर आप इसे ठीक समझते हो तो इसपर अमल करे।

हमारा जन्म इस भारत-भूमि में हुआ है। इस भूमि का प्रत्येक कण मेरे लिए पवित्र है। सैकडो साधु-सत इस भूमि में उत्पन्न हुए और लोगो को जगाते हुए विचरते रहे। इस धूलि को उनके चरणो का स्पर्श हुआ होगा। जी चाहता है कि इस धूलि में खूब लोटू। **'दुर्लभं भारते जन्म'** मेरा अहो-भाग्य है कि मैं इस भूमि में पैदा हुआ। "मैं इस भारतवर्ष में उत्पन्न हुआ।" इस विचार से ही कभी-कभी मेरी आखो से आसुओ की धारा बहने लगती है। आप ऐसी श्रेष्ठ भूमि की सतान है। आप अपने-आपको धन्य माने। आज जरा बुरे दिन आगये है। क्लेश, कष्ट, अपमान सहने पडते है। लेकिन इस विपत्ति में धीरज देनेवाला विचार भी तो पास ही है। हम सब आशा से काम करे, विवेकपूर्ण कर्म करे, अपने जीवन में दर्शन का प्रवेश करे। मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही इस देश के अच्छे दिन आयगे। लेकिन जरूरत है सुदर कृति की। वही कीजिए।

: ३० :

श्रमदेव की उपासना

मनुष्य को प्राय: बाह्य अनुकरण की आदत रहती है। आकाश के तारो को देखकर जी ललचाता है, इसलिए हम अपने मदिरो में काच की हाडिया और झाड-फानूस टागते है। आकाश के नक्षत्र तो आनद देते है, पर ये हाडिया और झाड तो घर के अदर की स्वच्छ वायु को जलाते है। चार महीने की वर्षा के बाद धुले हुए आकाश के अनगिनत नक्षत्रो को देखकर हमने दिवाली मनाना शुरू किया। छुटपन में हम एक वृक्ष के फल में नारियल का तेल डाल कर दिये जलाते थे। अब तो देहात में भी भयानक धुआ उगलनेवाले मिट्टी के तेल के दिये जलाये जाते है। इसी तरह देहात मे हम काग्रेस की नकल उतारते है। आरभ सगीत से करते है, चाहे लोग उसे समझें न। यह फलाना गेट, वह ढिमका गेट, ऐसे दरवाजो के नाम भी रख लेते है। लेकिन अनुकरण अदर से होना चाहिए।

मेरा मतलब यह है कि काग्रेस में राष्ट्र का वैभव नजर आना चाहिए, लेकिन खादी-यात्रा के द्वारा तो उसका वैराग्य ही प्रकट होना चाहिए। हिमालय से निकलनेवाली गगा गगोत्री के पास छोटी और शुद्ध है। प्रयाग की गगा में नदिया, नाले और नालिया मिलकर वह वैभवशालिनी बन गई है। दोनो स्थानो मे वही पवित्र गगाजी है। लेकिन गगोत्री की गगा यदि प्रयाग की गगा के अनुकरण का दम भरे तो प्रयाग की विशालता उसे प्राप्त होने के बजाय वह अस्वच्छ, अशुद्ध हो जायगी। काग्रेस के समान बडे-बडे सम्मेलनो में राष्ट्र का वैभव और सिद्धि प्रकट होती है। छोटी-सी खादी-यात्रा में वैराग्य और शुद्धि के दर्शन होने चाहिए। हम चाहे कितनी ही कोशिश क्यो न करे, काग्रेस का वैभव देहात में नही ला सकते। वहा तो देहातियो के दिल की ताकत और देहाती जीवन ही प्रकट होना चाहिए।

हम खादी-यात्रा में क्यो एकत्र होते है? व्याख्यान, खेल-कूद राष्ट्र-गीत

के लिए नही । चाहे जिस तीर्थ-स्थान को ले लीजिए । तीर्थ-स्थान में मेला लगता है । और भी हजारो चीजें होती है । लेकिन यात्री वहा किसलिए जाते है ? देव-दर्शन के लिए । कोई कहेगा, उस पत्थर में क्या धरा है जी ! लेकिन तीर्थ-यात्री के लिए वह पत्थर नही है । उमरेड (नागपुर के पास की एक तहसील) के पास रहनेवाला एक अछूत लडका पढरपुर जाता है । उसे कोई मदिर में जाने भी नही देता । लेकिन वह तो वहा देवता के दर्शन के लिए ही गया, हम उसे पागल भले ही कहे । पढरपुर के देवता से कोई मतलब नही है । लेकिन वहा जो मेला लगता है उससे लाभ उठाने के लिए वहा हम उस मौके पर खादी-ग्रामोद्योग की प्रदर्शनी का आयोजन करते है । पर हमारा उद्देश्य सफल नही होता । चाहे शुद्ध उद्देश्य से ही क्यो न हो लेकिन यदि जनता को फासना ही है तो कम-से-कम मै तो उसे सीधे अपना मतलब बताकर फासूगा । खादी-ग्रामोद्योग का स्वतत्र मदिर हम क्यो नही बना सकते ? दूसरे मेलो से लाभ उठाने की जरूरत हमें क्यो पडती है ?

खादी-यात्रा मे हम खादी, ग्रामोद्योग और अहिंसा के प्रेमी क्यो एकत्र होते है ? मुझ-जैसे कई ऐसे आदमी भी होगे जिन्हे दो दिन रहने की फ़ुरसत भी न हो । वे यहा किस खास चीज के लिए आय ? मेरा उत्तर है—सब मिलकर एकत्र कातने के लिए । परिश्रम हमारा देवता है, उसके दर्शनों के लिए । मेरी इच्छा गाधी-सेवा-सघ के सम्मेलन में जाने की थी । सिर्फ इसलिए कि वहा सामुदायिक शरीर-श्रम का कार्यक्रम होता है । खादी-यात्रा में यह गद्दी किसलिए ? खादी और गादी (गद्दी) की लडाई है । अगर इस लडाई मे खादी की जीत होनेवाली हो तो हमको गादी छोड देनी चाहिए। दुबले, पतले-कमजोर आदमियो और बूढो के लिए गादी का उपयोग भले ही होता रहे । हमें तो जमीन लीप-पोतकर मुख्य कार्यक्रम करना चाहिए। दूसरे ही कार्यक्रम मुख्य होने लगें तो यह तो ऐसा ही हुआ कि कोई किसान हमारे घर मेहमान आय, हम सुदर चौक पूरकर उसके सामने तरह-तरह की चटनी और अचारो के ढेर लगाकर थाली लगाय,

लेकिन उसमें रोटी रखें केवल दो तोले! वह बेचारा कहेगा कि मेरा इस तरह मजाक क्यो उडाते हो, भाई! इसी प्रकार देहाती कहेगे, हम यहा मजदूरी करने आते है। क्या आप लोग हमारे साथ मजाक करने आते हैं ?

दूसरे लोग हमसे पूछते है, तुम्हारा धर्म कैसा है ? श्रीकृष्ण की लोग जय बोलते हैं। लेकिन सौ में निन्यानवे लोग गीता का नाम तक नही जानते। मुझे इसका इतना दुःख नही है। गोपालकृष्ण का नाम तो सब लोग जानते है न ? उनकी जीवनी तो सब जानते है न ? कृष्ण की महत्ता इसलिए नही है कि उन्होने गीता का गायन किया। वह तो उनके जीवन के कारण है। द्वारिकाधीश होने के बाद भी सारा राज-काज सभालकर श्रीकृष्ण कभी-कभी ग्वालो के साथ रहने आया करते थे। गायें चराते थे, गोबर उठाते थे। उन्हे इस सारे काम से इतना प्रेम था, इसीलिए आज भी लोगो के दिल में उनके लिए इतना प्रेम है और वे उनका स्मरण करते है। परिश्रम के प्रतिनिधि बनकर भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ करते थे वह हमें अपना प्रधान कार्य समझकर करना है। इसके अलावा और जो कुछ करना चाहे कीजिए, पर अनुकरण का अभिनय न हो।

महात्माजी बिल्कुल तग आगये हैं। अहिंसा के बल पर हमने इतनी मजिल तय की। लेकिन अब भी हमारी सरकार को तो हिंदू-मुसलमानो के दगो में पुलिस और फौज बुलानी पडती है। अहिंसा के बल पर हम दगे शात नही करा सकते, यह एक तरह से अहिंसा की हार ही है। दुर्बलो की अहिंसा किस काम की ? कोई-कोई कहते है, इसमें मन्त्रियो का कुसूर है ? मैं कहता हू, तिनके के बराबर भी कुसूर उनका नही है। लेकिन आखिर मत्री बनकर भी क्या हम यही करते रहेंगे ? अग्रेजो के आने से पहले भी तो हम यही करते थे—जब जरूरत होती, अग्रेजो की सेना का आवाहन करते थे। तब और अब में भेद ही क्या रहा ? गाधी के देशभक्त अनुयायी भी हमारी फौज की शरण लेते है, इसकी अग्रेजो को कितनी खुशी हो रही होगी ? अगर बिना फौज के काम ही न चलता हो तो अपनी फौज खडी कीजिए। आज

तो फौज में चुन-चुनकर तामसी लोग भरती किये जाते है। कम-से-कम आप ऐसा तो न करेंगे। आप देश की हालत जाननेवाले लोगो को फौज में भरती करेगे।

महात्माजी ने अपने दो लेखो में यह बात साफ कर दी है कि अहिंसा वीरो की होनी चाहिए, दुर्बलों की कदापि नही। जब शस्त्र की धार शरीर में लगती है तभी वीरता की परीक्षा होती है। आप अहिंसा का दम भरेंगे और मरने से डरेंगे तो ऐन मौके पर आपको पता चलेगा कि आप कायर है।

काग्रेस के ३१ लाख सदस्य बन गये है। लेकिन सख्या को लेकर हम क्या करे ? रोज जिन्हें एक ही जून रोटी नसीब होती है ऐसे सब लोगो को सदस्य बनालें तो पैंतीस करोड सदस्य बन जायगे। दोनो जून खानेवालो को बनाना हो तो कम-से-कम चार-पाच करोड को इनमें से कम कर देना पडेगा। सिंधिया के पास साठ हजार फौज थी। होलकर के पास चालीस हजार। लेकिन वेलजली ने पाच हजार फौज से उनको हरा दिया। क्यो ? जब वेलजली ने चढाई की तो सिंधिया के दस हजार जवान पाखाने गये थे और दस हजार सो रहे थे। इस तरह के तमाशबीन किस काम के ? और फिर अहिंसा की लडाई में ऐसे आदमियो से तो काम नही चलेगा। बड के पेड के नीचे जो लोग आराम करने आते है, वे उसकी छाया से लाभ उठाते है, लेकिन उनमें से कोई उसके काम नही आयगा।

मन्त्रि-पद स्वीकार कर लेने में लाभ चाहे जो हुआ हो, लेकिन एक बडा भारी नुकसान हुआ। लोगो की स्वावलवन की हिम्मत घटी हुई-सी दीख पडती हैं। उधर वह बूढा (गाधी) बिल्कुल परेशान हो रहा है। सयुक्तप्रात की असेंबली में दगो के बारे में बहस होती है और मुसलमानो की ओर से शिकायत आती है कि मन्त्री जनता की अच्छी तरह रक्षा नही कर सके। अगर हमें हिंसा का ही मार्ग लेना था तो हमने ये अठारह साल अपने अच्छे-से-अच्छे लोगो को अहिंसा की शिक्षा देने में बिताने की बेवकूफी क्यो की ? जर्मनी और इटली की तरह इन नौजवानो को

भी फौजी शिक्षा दी गई होती ? इसलिए गाधीजी कहते है कि मेरा मार्ग यदि बहादुरो के मार्ग के रूप में जचता हो तो उसे स्वीकार करो, वरना छोड दो।

पौनार में मैं मजदूरो के साथ उठता-बैठता हू। मैंने उनसे कहा,' तुम लोग अपनी मजदूरी इकट्ठी करके आपस में बराबर-बराबर बाट लो।" आपको शायद सुनकर अचरज होगा, पर मजदूरो ने कहा, "कोई हर्ज नही।" लेकिन इस प्रस्ताव पर अमल कैसे हो ? उनसे अलग रहकर ? जब मैं भी उनमे शामिल हो जाऊगा तब हम सब मिलकर उसपर अमल करेंगे। आपको अपने हजार आदोलन छोडकर इस सच्ची राजनीति की ओर ध्यान देना चाहिए। मजदूरा की मजदूरी की शक्ति प्रकट होनी चाहिए। आप गरीबो के हाथ में सत्ता देना चाहते है न ? तब तो उसके हाथो का खूब उपयोग होने दीजिए। बचपन में हम एक श्लोक पढा करते थे—'कराग्रे वसते लक्ष्मी'—अगुलियो के अग्रभाग में लक्ष्मी निवास करती है। तो फिर बताइए, क्या इन अगुलियो का ठीक-ठीक उपयोग होना आवश्यक नही है ? क्या उनमें उत्तम कला-कौशल आना जरूरी नही है ? हम विदेशी वस्त्र-बहिष्कार-कमेटी बनाते है। उसमें गद्दी, कलम, कागज और दूसरी हजार चीजें होती है। लेकिन चरखा, धुनकी नदारद। गाधी-सेवा-सघ में हर महीने हजार गज कातने का नियम है। लेकिन शिकायत यह है कि उसका भी भली-भाति पालन नही होता। ये स्वराज्य प्राप्त करने के लक्षण नही है। फिर तो आपका स्वराज्य सपने की चीज है। जबतक हम मजदूरो के साथ परिश्रम करने के लिए तैयार न होगे तबतक उनका हमारा 'एका' कैसे होगा ? जबतक हम उनमें घुल-मिल न जाय तब-तक हमारी अहिंसा की शक्ति प्रकट न होगी।

कताई की मजदूरी की दर बढाई जानेवाली है इससे कुछ लोगो को शिकायत है। कुछ लोग कहते है कि मजदूरी चाहे जितनी बढाए, लेकिन खादी सस्ती रहे। अब इस दलील के सामने अर्थशास्त्र क्या अपना सिर पीटे ? कताई की दर बढाकर खादी सस्ती कैसे करें ? शायद इसका भी मेल बैठाने में सफलता मिल जाय। लेकिन उसके लिए यत्र, तोप, हवाई जहाज

आदि की सहायता लेनी पडेगी। शहर में रहनेवाले जमनालालजी यदि कहें कि खादी सस्ती मिलनी चाहिए तो भले ही कहें, मगर देहात के लोग भी जब यही कहने लगते है तो बडा आश्चर्य होता है। आप कहते है कि मजदूरो को जिंदा रहने के लायक सुविधा हो। अंग्रेज भी तो दिलोजान से यही चाहते है कि हम जियें और जन्म भर उनकी मजदूरी करे।

खादी का व्यवस्थापक यदि २०) वेतन लेता है तो त्यागी समझा जाता है। उसे निजी काम के लिए या बीमारी के कारण सवेतन छुट्टी मिल सकती है। लेकिन उसके मातहत काम करनेवाले को डेढ आना मजदूरी मिलती है। निजी काम के लिए या बीमारी की छुट्टिया नदारद। हा, बिना वेतन के चाहे जितनी छुट्टिया लेने की सुविधा है। इन बेचारे मजदूरो को अगर खादी-यात्रा में आना हो तो अपनी रोजी त्याग करके आना पडता है और इसके अलावा यहा का खर्च भी देना पडता है। शायद तुलना कडवी लगे। लेकिन कडवे-मीठे का सवाल नही है, सवाल तो है सच और झूठ का।

कुछ लोग कहते है, समाजवादियो ने मजदूरो को फुसलाकर अपने पक्ष में कर लिया है, इसलिए हमें मजदूरो में जाकर उन्हें समाजवादियो के चगुल से छुडाना चाहिए। लेकिन आप मजदूरो में किस ढग से प्रवेश करना चाहते है? अगर अहिंसक ढग से उनमें शामिल होना है तब तो व्यवस्थापक और मजदूर में आज जो अतर है वह घटता ही जाना चाहिए। व्यवस्थापको को मजदूरो के समान बनना चाहिए। मजदूरो का वेतन बढाना चाहिए। "मजदूरो का वेतन बढाकर उनका और एक विशेष वर्ग तुम निर्माण करोगे", ऐसा आक्षेप भी कुछ लोग करते है। तो फिर मुझपर यह भी आक्षेप क्यों न किया जाय कि मैं देश की सेवा करने वाले देश-सेवको का ही एक खास वर्ग बनाने जा रहा हू? मजदूरी की दर बढाये बिना मैं मजदूरो के साथ एकरूप किस तरह हो सकता हू? उनका और मेरा 'एका' कैसे हो सकता है?

किशोरलालभाई का आग्रह था कि शिक्षको को कम-से-कम २५) मासिक वेतन मिलना चाहिए। पौनार के मास्टरो को १६) माहवार मिलता है। मजदूरो को उनसे ईर्ष्या होती है। तीन साल पहले मेरे प्राणपखेरू उड

चुके थे, सो कताई के भाव बढते ही फिर इस शरीर में लौट आये। बेचारो को दस-दस घटे मेहनत करनी पड़ती है, तब कही बडी मुश्किल से चार आने पैसे मिलते है। और यहा तो कम-से-कम खर्च छ आने का है। भला बताइए, मै उनमें कैसे शामिल हो सकता हू।

आज तो श्रम की प्रतिष्ठा केवल वाड्मय—साहित्य—में है। इससे कोई फायदा नही। श्रम का अधिक मूल्य देना ही उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा बढाना है और इसका आरभ हम आप सबको मिलकर करना है।

यहा इतने खादीधारी आते है, लेकिन सब अपना-अपना चरखा या तकली नही लाते। यहा तकली भूलकर आना, मानो नाई का अपना उस्तरा भूल आना है! हम यहा खिलवाड के लिए नही आते। हमारी खादी-यात्रा में वैराग्य का वैभव और श्रम की शक्ति प्रकट होनी चाहिए।

: ३१ :

राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

आज तक खादी का कार्य हमने श्रद्धा से किया है। अब श्रद्धा के साथ-साथ विचारपूर्वक करने का समय आगया है। खादीवाले ही यह समय लाये है, क्योकि उन्होने ही खादी की दर बढाई है।

सन् १९३० में हमने सत्रह आने गज खरीदी थी। मगर सस्ती करने के इरादे से दर कम करते-करते चार आने गज पडने लगी। चारो ओर "यत्र युग" होने के कारण कार्यकर्त्ताओ ने मिल के भाव दृष्टि मे रखकर धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उसे सस्ता किया। इस हेतु की सिद्धि के लिए जहा गरीबी थी उन स्थानो में कम-से-कम मजदूरी देकर खादी उत्पत्ति का कार्य चलाना पडा। लनेवालो ने भी ऐसी खादी इसलिए ली कि वह सस्ती थी। मध्यम वर्ग के लोग कहने लगे—अब खादी का इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योकि उसके भाव मिल के कपडे के बराबर होगये है, वह टिकाऊ भी काफी है और महगी

भी नही है। अर्थात्, 'थुडमुली और धनदुधी' इस कहावत के अनुसार खादी-रूपी गाय लोगो को चाहिए थी। उन्हें वह वैसी मिल गई और वे मानने लगे कि खादी इस्तेमाल करके हम महान् देश-सेवा कर रहे है।

यह बात तो गाधीजी ने सामने रखी है कि अब मजदूरो को अधिक मजदूरी दी जाय, उन्हे रोजाना आठ आने मिलने चाहिए। क्या यह भी लाल-बुझक्कड की बकवास है या उनकी बुद्धि सठिया गई है? या उनके कहने में कुछ सार भी है? इसपर हमें विचार करना चाहिए। हम अभी साठ के अदर ही है, ससार से अभी ऊब नही गये है, दुनिया में अभी हमे रहना है। यदि यह विचार हमे नही जचते तो यह समझकर हम इन्हे छोड सकते है कि यह खब्ती लोगो की सनक है। सच बात तो यह है कि जबसे खादी की मजदूरी बढी तबसे मुझमे मानो नई जान आगई। पहले भी मैं यही काम करता था। मै व्यवस्थित कातनेवाला हू। उत्तम पूनी और निर्दोष चरखा काम मे लाता हू। कातते समय मेरा सूत टूटता नही, यह आपने अभी देखा ही है। मैं श्रद्धापूर्वक, ध्यानपूर्वक कातता हू। आठ घटे इस तरह काम करने पर भी मेरी मजदूरी सवा दो आने पडती थी। रीढ में दर्द होने लगता था। लगातार आठ घटे काम करता था, मौनपूर्वक कातता था, एक बार पालथी जमाई कि चार घटे उसी आसन मे कातता रहता। तो भी मैं सवा दो आने ही कमा सकता था। सारे राष्ट्र में इसका प्रचार कैसे हो, इसका विचार मै करता रहता था। यह मजदूरी बढ गई इससे मुझे आनद हुआ, कारण मै भी एक मजदूर ही हू। **"घायल की गति घायल जाने।"**

मेरे हाथ के सूत की धोती पाच रुपये की हो, तब भी धनी लोग बारह रुपये में खरीदने को तैयार है। कहते है, "यह आपके सूत की है, इसलिए हम इसे लेते है।" ऐसा क्यो? मै मजदूरो का प्रतिनिधि हू। जो मजदूरी मुझे देते हो वही उन्हें भी दो। ऐसी परिस्थिति में मुझे यही चिंता हो गई है कि इतनी सस्ती खादी कैसे जीवित रह सकेगी। अब मेरी यह चिंता दूर हो गई है। पहले कातनेवाले चिंतित रहते थे कि खादी कैसे टिकेगी। आज वैसी ही चिंता पहननेवालो को मालूम हो रही है।

काश्तकार है। वहा की जमीन पर कम-से-कम दस हजार वर्ष से काश्त की जाती है। अमेरिका हिन्दुस्तान से तिगुना बडा मुल्क है, पर आबादी वहा की सिर्फ १२ करोड है। जमीन की काश्त केवल ४०० वर्ष पूर्व से हो रही है। इसलिए वहा की जमीन उपजाऊ है और वह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्र के काश्तकारो के हाथ मे और भी धधे दिये जाय तभी वह सम्हल सकेगा। काश्त-कार, *यानी (१) खेती करनेवाला, (२) गोपालन करनेवाला और (३)* धुनकर कातनेवाला। काश्तकार की यह व्याख्या की जाय तभी हिन्दुस्तान में काश्तकारी टिक सकेगी।

साराश, यह वर्त्तमान परिपाटी बदलनी ही पडेगी। बहुत लोग दुख प्रकट करते है कि खादी का प्रचार जितना होना चाहिए उतना नही होता। इसमें दुख नही आनद है। खादी बीडी के बडल अथवा लिप्टन की चाय नही है। खादी एक विचार है। आग लगाने को कहें तो देर नही लगती, पर यदि गाव बसाने को कहें तो इसमे कितना समय लगेगा, इसका भी विचार कीजिए। *खादी निर्माण का काम है, विध्वस का नही। यह विचार अग्रेजो के* विचार का शत्रु है। तब खादी की प्रगति धीमी है, इसका दुख नही, यह तो सद्भाग्य ही है। पहले अपना राज था तब खादी थी ही, पर उस खादी में और आज की खादी मे अन्तर है। आज की खादी में जो विचार है, वह उस समय नही था। आज हम खादी पहनते है इसके क्या मानी हैं, यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आज की खादी का अर्थ है सारे ससार में चलते हुए प्रवाह के विरुद्ध जाना। *यह पानी के प्रवाह के ऊपर चढना है।* इसलिए जब हम यह बहुत सा प्रतिकूल प्रवाह—*प्रतिकूल समय जीत सकेंगे,* तभी खादी आगे बढ सकेगी। 'इस प्रतिकूल समय का सहार करनेवाली मैं हू", यह वह कह सकेगी। **"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्ध"** ऐसा अपना विराट रूप वह दिखलायगी। इसलिए खादी की यदि मिल के कपडे से तुलना की गई तो समझ लीजिए कि वह मिट गई—मर गई। इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि "मै मिल की तुलना में सस्ती नही, महगी हू। मै बडे मोल की हू। जो-जो विचारशील मनुष्य है, मै उन्हें अलकृत करती हू। मैं

सिर्फ शरीर ढापने-भर को नहीं आई, मैं तो आपका मन हरण करने आई हूं।" ऐसी खादी यकायक कैसे प्रसूत होगी ? वह धीरे-धीरे ही आगे जायगी और जायगी तो पक्के तौर से जायगी। खादी के प्रचलित विचारों की विरोधिनी होने के कारण उसे पहननेवालों की गणना पागलों में होगी।

मैंने अभी जो तीन वर्ग बताये हैं—काश्तकार, अन्य धंधा करनेवाले और जिनके पास धंधा नहीं—उन सभी ईमानदार मनुष्यों को हमें अन्न देना है। इसे करने के लिए तीन शर्तें हैं। एक तो सर्वप्रथम काश्तकार की व्याख्या बदलिए। (१) खेती, (२) गो-रक्षण और (३) कातने का काम करनेवाले, ये सब काश्तकार है—काश्तकार की ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, बैल, गाय, दूध इन वस्तुओं के विषय में काश्तकार को स्वावलंबी होना चाहिए। यह एक शर्त हुई। दूसरी शर्त यह है कि जो वस्तुएं काश्तकार तैयार करें, वे सब दूसरों को महंगी खरीदनी चाहिए। तीसरी बात यह है कि इनके सिवाय बाकी की चीजें जो काश्तकार को लेनी हों वे उसे सस्ती मिलनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, दूध ये वस्तुएं महंगी, पर घड़ी, गिलास-जैसी वस्तुएं सस्ती होनी चाहिए। वास्तव में दूध महंगा होना चाहिए जो है सस्ता, और गिलास सस्ते होने चाहिए जो है महंगे। यह आज की स्थिति है। आपको यह विचार रूढ़ करना चाहिए कि अच्छे-से-अच्छे गिलास सस्ते और मध्यम दूध भी महंगा होना चाहिए। इस प्रकार का अर्थशास्त्र आपको तैयार करना चाहिए। खादी, दूध और अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी हो सकेगा ? इने-गिने कुछ ही नौकरों को नियमित रूप से अच्छी तनख्वाह मिलती है, उनकी बात छोड़िए। जिस राष्ट्र में ७५ प्रतिशत काश्तकार हों, उसमें यदि ये वस्तुएं सस्ती हुई तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा ? उसे सुखी बनाने के लिए खादी, दूध, अनाज, ये काश्तकारों की चीजें महंगी और बाकी की चीजें सस्ती होनी चाहिए।

मुझसे लोग कहते हैं, "तुम्हारे ये सब विचार प्रतिगामी हैं। इस बीसवीं सदी में तुम गांधीवाले लोग यंत्र-विरोध कर रहे हो।" पर मैं कहता हूं कि क्या आप हमारे मन की बात जानते हैं ? हम सब यंत्र-विरोधी हैं, यह आपने कैसे

समझ लिया ? मै कहता हू कि हम यन्त्रवाले ही है। एकदम आप हमे समझ सके यह बात इतनी सरल नही है। हम तो आपको भी हजम कर जानेवाले है। मै कहता हू कि आपने यन्त्रो का आविष्कार किया है न ? हमे भी वे मान्य है। काश्तकारो की वस्तुए छोडकर बाकी की वस्तुए आप सस्ती कीजिए। अपनी यन्त्र-विद्या काश्तकारो के धधो के अलावा दूसरे धधो पर चलाइए और वे सारी वस्तुए सस्ती होने दीजिए। पर आज होता है उल्टा। काश्तकारो की वस्तुए सस्ती, पर इतने यन्त्र होते हुए भी यन्त्र की सारी वस्तुए महगी! मै खादी-वाला हू, तो भी यह नही कहता कि चकमक से आग पैदा कर लो। मुझे भी दियासलाई चाहिए। काश्तकारो को एक पैसे मे पाच डिबिया क्यो नही देते ? आप कहते है कि हमने बिजली तैयार की और वह गाववालो को चाहिए। तो दीजिए न आध आने मे महीने भर! आप खुशी से यन्त्र निकालिए, पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए जैसा मै कहता हू। केले चार आने दर्जन होने चाहिए और आपके यन्त्रो की बनी वस्तुए पैसे-दो पैसे में मिलनी चाहिए। मक्खन दो रुपये सेर आपको काश्तकारो से खरीदना चाहिए। यदि आप कहे कि हमे यह जचता नही, तो काश्तकार भी कह दें कि हम अपनी चीज खाते है, हमारे खाने के बाद बचेगी तो आपको देगे। मुझे बताइए, कौन-सा काश्तकार इसका विरोध करेगा ?

इसलिए यह खादी का विचार समझ लेना चाहिए। बहुतो के सामने यह समस्या है कि खादी महगी हुई तो क्या होगा ? पर किनको ? किसानो को खादी खरीदनी नही, बेचनी है। इसलिए उनके लिए खादी महगी नही, वह उन्हें दूसरो को महगी बेचनी है।

: ३२ :

'वृक्षशाखा'-न्याय

मेरा यह बराबर अनुभव रहा है कि शहरातियो की अपेक्षा देहाती अधिक बुद्धिमान् होते है। शहराती जड है। जड सपत्ति की सोहबत से जड बन गये है।

मैं आज देहातों की जागृति के बारे में दो शब्द कहूंगा। आजकल किसानों के सगठन के लिए किसान-सभाएं कायम की जा रही हैं। लोग मुझसे पूछते हैं, "किसान-सभाएं बन रही हैं, यह देखकर तुम्हें कैसा लगता है?" मैं कहता हूं, "क्या मैं इतना जड़ हूं कि किसान-सभाओं की स्थापना से खुश न होऊं?" किसान-सभाएं बनानी चाहिए और गांव-गांव में बननी चाहिए। लेकिन इसके सबंध में दो बातों पर ध्यान देना चाहिए। डाली जबतक पेड़ से जुड़ी रहेगी तभी तक उसे पोषण मिलेगा। अलग होते ही वह तो सूख ही जायगी, साथ ही पेड़ को भी नुकसान पहुंचायगी। पचास साल पहले लगाये हुए जिस वृक्ष की छाया में यह सभा हो रही है, उसे छोड़कर किसान-सभाएं यदि अलग हो जायं तो इससे उनका नुकसान तो होगा ही, साथ ही पेड़ की भी हानि होगी। इसलिए किसानों का सारा सगठन कांग्रेस से अविरुद्ध ही होना चाहिए। 'कांग्रेस के अनुकूल' से यह मतलब नहीं है कि वे सिर्फ अपने नाम में कहीं 'कांग्रेस' शब्द लगा दें। आजकल 'स्वराज्य' शब्द का महत्व है। इसलिए कई संस्थाएं उसे अपने नाम के साथ जोड़ती हैं—जैसे 'वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ'। मेरा मतलब इस तरह की अनुकूलता से नहीं है। 'कांग्रेस के अनुकूल' से मतलब यह है कि उनकी वृत्ति और दृष्टि अपने आंदोलन में कांग्रेस की शक्ति बढ़ाने की होनी चाहिए।

कांग्रेस के हाथों में राजशक्ति आ गई है, इसका क्या अर्थ है? दही में से सारा मक्खन निकाल लेने पर सरकार ने मट्ठे का चौथाई हिस्सा हमारे लिए रख दिया है। यही चार आना मट्ठा ग्यारहों प्रांतों में बांट दिया है। उनमें से हमारी हुकूमत सात प्रांतों में है। यानी ढाई आने मट्ठा हमारे पल्ले पड़ा है। आप पूछेंगे कि फिर हमने यह स्थिति क्यों मजूर की? मेरा जवाब है, "फच्चर लगाने के लिए।" भारत के बड़े बड़े नेताओं ने निश्चय किया कि ब्रिटिश सत्ता की धरन में यह जो जरा-सी दरार पड़ गई है, उसमें फच्चर लगा दी जाय। अगर इस उद्योग में फच्चर के ही टूट जाने का अंदेशा होता तो यह स्थिति कदापि स्वीकार न की गई होती। लेकिन उन्हें विश्वास है कि उनकी फच्चर फौलाद की बनी हुई है। पर याद रहे, केवल फच्चर लगा देने से ही काम

नही चलता। उसपर घन की चोटें भी मारनी पडती है। हमारे आदोलन उस फत्थर पर लगाई जानेवाली चोटें हैं।

इसलिए हमें आदोलन बडी कुशलता से करना चाहिए। जिन्हें हमने अपना मत देकर भेजा है, उनके काम में हमारे आदोलन से मदद ही पहुचे, इसकी सावधानी हमें रखनी चाहिए। हमारी मागें ऐसी हो और ऐसे ढग से पेश की जाय कि हमारे प्रतिनिधि सोने तो न पाय, लेकिन उनका बल भी किसी तरह कम न होने पाय।

मैं क्रोधी आदमी हू। क्रोधी और सच्चे आदमी की जीभ अक्सर खुज-लाती रहती है। तुकाराम का यही हाल था। उन्होने "मेरा तो मुह खुजलाता है", कहकर भगवान् को खूब खरी-खरी सुनाई। मैं यह नही कहता कि किसान सभावाले कम जोर से बोलें, लेकिन तुकाराम के समान उनका जोर प्रेम का हो। तब उनका जोर उनके प्रेम का लक्षण माना जायगा। बिना प्रेम का जोर दिखाने का परिणाम यह होगा कि जिनसे हम सब एक होकर लडना चाहते है, वे तो सुरक्षित रहेंगे और जिन्हें हमने चुनकर भेजा है, उनसे हम लडते रहेंगे।

लगन चाहे कितनी ही हो, लेकिन अगर बुद्धि चली गई तो सबकुछ चला गया। बोलने में हमेशा विवेक रहे। हम जो कुछ कहें, उसके सबूत और अक पेश करें। स्वराज्य लड्डू तो है, लेकिन मेथी का लड्डू है। उसमें जिम्मेदारी का कडुआपन ह। हम स्वराज्य क्यो चाहते हैं ? इसलिए कि अडचनो को दूर करने में अपनी बुद्धि लगाने का मौका हमें मिले। आज हमें कुछ भी नही करना पडता, इसलिए हम जड होगए है। कल अग्रेज यहां से अपनी फौज हटा लें तो हम मुसीबत में पड जायगे, लेकिन हम यह चाहते हैं, क्योकि उस हालत में हमें अपनी अक्ल लगाने का मौका मिलेगा। हमें जो 'मडगिल' भात दिया जा रहा है, वह हम नही चाहते। हमें तो जरा करारी रोटी चाहिए। बुद्धिमत्ता के जो-जो क्षेत्र आज हमारे लिए बिल्कुल बन्द है, वे थोडे-बहुत खोल दिये गए हैं। इसलिए स्वराज्य की जिम्मेदारी का खयाल रखकर किसानों को अपने आदोलन सोच-विचारकर समझदारी के साथ

चलाने चाहिए। अपने मुह से निकलनेवाले शब्दो को उन्हें तौल-तौलकर कहना चाहिए। "ब्रह्म वाक्य" के समान "किसान-वाक्य" भी भाषा का मुहावरा बन जाना चाहिए। सबका यह विश्वास हो जाना चाहिए कि किसानो का वाक्य कभी असत्य या गैर-जिम्मेदार हो ही नही सकता। आज भी सरकार का हाथ कम मजबूत नही है, वह खासा मजबूत है। लेकिन उसे पकडने की हिम्मत हमने लोगो के बल पर की है। इसलिए लोगो के आदोलन जोश से भरे हुए, उत्साहवर्धक, किंतु प्रेमयुक्त और विवेक तथा सत्य के अनुकूल और अपने प्रतिनिधियो की ताकत बढाने की दृष्टि से होने चाहिए।

समर्थ रामदास ने कहा था कि आदोलन में सामर्थ्य है। लेकिन हम समझ बैठे है कि वकवास में ही बल है। आजकल की हमारी सभाए निरी वकवास होती है। एक समय था जब काग्रेस सरकार के सामने केवल शिकायतें पेश करनेवाली सस्था थी। उस समय वह भी शोभा देता था।

जिमि बालक करि तोतरि बाता।
सुनहि मुदित मन पितु अरु माता॥

लेकिन बडे होने पर? चालीस साल के बाद भी अगर हम फिर 'यह दीजिए', 'वह दीजिए', 'यह नही हुआ', 'वह नही हुआ', आदि शिकायतें सरकार के सामने पेश करते रहें, तो तब और अब की हालत में अतर ही क्या रहा? 'यह दीजिए', 'वह दीजिए'—लेकिन 'दीजिए' कहा से? असली शक्ति तो ग्राम-सगठन है। जनता की शक्ति बढनी चाहिए। रो-धोकर भीख मागने से थोडे ही वह बढेगी? हिंदुस्तान की आर्थिक तबाही अंग्रेजो के व्यापार के कारण हुई है। जबतक देहात की शक्ति नही बढेगी, हिंदुस्तान सपन्न कैसे होगा? 'लगान माफ करो, लगान माफ करो', कहकर अपने दुखडे रोने से क्या होगा? काग्रेस की बदौलत हमें आदोलन करने के लिए आधार, आश्वासन और सुयोग प्राप्त हुआ है। इससे अधिक कुछ नही हुआ है। लेकिन हम तो यही समझने लगे है कि जैसे हम मंजिल पर ही पहुच गए हो। बनचराई माफ हो गई, राजाजी को खादी के लिए दो लाख रुपये मिल गये। हमने समझा बस अब तो मंजिल आ ही गई। इसीको मैं बकवास

कहता हू । खादी के लिए दो लाख ! अजी, दो सौ करोड भी काफी न होगे । सारे देश को हमे खादीमय बनाना है । दो लाख से क्या होता है ? लेकिन यह काम कोई भी सरकार नही कर सकती । यह तो जनता को ही करना चाहिए ।

हमारे देहाती भाई शहरातियो से अच्छी तरह लडते भी तो नही । देहाती चीजो के भाव बहुत गिर गये है । शहरी चीजे महगी बिकती है । देहातियो को चाहिए कि वे शहराती दूकानदारो से कहे, "घडी के दाम बीस रुपये बताते हो, दो रुपये मे दे दो । मेरा मक्खन छ आने सेर मागते हो ? तीन रुपये सेर दूगा । इसके लिए मुझे इतनी मेहनत और खर्च जो करना पडा है।"

देहातो को सहयोग से पूजी जुटाकर भाति-भाति के उद्योग शुरू करने चाहिए । इसके लिए कोई रुकावट नही है । सरकार से आपको उचित सरक्षण मिल सकता है । यदि हम ऐसा कुछ करेंगे तो हमारी हलचले 'आदोलन' के नाम की अधिकारिणी होगी । वरना सारी हलचले निरी बकवास और हडबडाहट ही सिद्ध होगी । हरएक गाव को एक छोटा-सा राष्ट्र समझकर वहा की सपत्ति बढाने का सामुदायिक दृष्टि से विचार होना चाहिए । गाव के आयात और निर्यात पर गाँव की चुगी होनी चाहिए । जब हम ऐसा करेंगे तभी हम अपनी सरकार को बल प्रदान कर सकेंगे, वरना हमारे आदोलन फिजूल है ।

: ३३ :

राजनीति या स्वराज्यनीति

एक भिखारी सपने मे राजगद्दी पर बैठा । उसे यह कठिनाई हुई कि अब राज कैसे चलाऊ ? बेचारा सोचने लगा, "प्रधान मत्री से मैं क्या कहू ? सेनापति मेरी कैसे सुनेगा ?" आखिर भिखारी का ही तो दिमाग ठहरा ।

वह कोई निर्णय न कर सकता था। कुछ देर के बाद उसकी नींद ही खुल गई और सारे प्रश्न हल होगये।

हमारे साथ भी ऐसा ही कुछ होने जा रहा है। यह मानकर कि हिंदुस्तान को स्वराज्य मिल चुका है, लोगों ने विचार करना शुरू कर दिया। उन्हे एकदम विश्वरूप दर्शन होगया। "बाह्य आक्रमण का क्या करें, भीतरी बगावत और अराजकता का सामना कैसे करे?" एक ने कहा, "हिंसा किसी काम नही आयगी।" दूसरे ने कहा, "अहिंसा के लिए हमारी तैयारी नही है।" तीसरा बोल उठा, "कुछ अहिंसा, कुछ हिंसा, जो कुछ बन पडेगा, करेंगे। फिलहाल हम गांधीजी को मुक्त कर देंगे। सरकार के साथ तो हमारा अहिंसात्मक सहयोग है ही, लेकिन देखा जायगा। अगर ईश्वर की कृपा से सरकार के दिल मे सुबुद्धि उपजी और उसने स्वराज्य का शब्दोदक (दान का शाब्दिक सकल्प) हमारे हाथ मे दे दिया तो हम उसके युद्ध यत्न की सहायता करेंगे। इग्लैंड के पास शस्त्र-सामग्री है और हमारे पास जन-बल है। दोनो को मिलाने से बहुत-सा सवाल हल हो जायगा।" तात्पर्य यह कि हमने अभी स्वराज्य हासिल नही किया है, इसलिए विचारो की ये उलझनें पैदा हो रही हैं। अगर हमने अहिंसा की शक्ति से स्वराज्य प्राप्त कर लिया होता या प्राप्त करनेवाले हो—और कार्य-समिति तो साफ-साफ कह रही है कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए हमारे पास अहिंसा के सिवा दूसरी शक्ति नही है—तो उसी शक्ति द्वारा आज की सारी समस्याएं कैसे हल की जा सकती हैं, यह हमें सूझता या सूझेगा। आज तो श्रद्धा दृढ करने का सवाल है। यह कदम-ब-कदम अर्थात् क्रमश: ही होती है। यही ज्ञान की महिमा है।

लेकिन आज क्या हो रहा है? हमारे नेता गिडगिडाकर सरकार से यह विनती करते हुए देख पडते है कि "गांधीजी का त्याग करना हमारे लिए आसान नही था। लेकिन इतना कठिन त्याग करके भी सहयोग का हाथ आपकी तरफ बढाया है। सरकार, हमें स्वराज्य का वचन दे दे और हमारा सहयोग ले ले।"

इस विचित्र घटनापर ज्यो-ज्यो विचार करता हू त्यों-त्यो विचार को

अधिकाधिक व्यथा होती है। मान लीजिए, सरकार ने यह विनंती स्वीकार कर ली और सरकार के युद्ध-यत्र में काग्रेस दाखिल होगई। तो जिस क्षण वह स्वराज्य का वचन प्राप्त करती है, उसी क्षण स्वराज्य के अर्थ को वह सैकडो वर्ष दूर ढकेल देती है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो रही है।

जिसने हिंसात्मक युद्ध में योग देने का निश्चय कर लिया, उसने शुरू-शुरू में न्याय-अन्याय का जो कुछ थोडा-बहुत विचार किया हो सो किया हो, लेकिन एक बार युद्धचक्र में दाखिल हो जाने के बाद फिर तो न्याय-अन्याय की अपेक्षा बलाबल का विचार ही मुख्य हो जाता है।

हिंसा का शस्त्र स्वीकार करने के बाद बलाबल का ही विचार मुख्य है। हमारे पक्ष में अगर कुछ न्याय हो तो ठीक है, न हो तो न सही। हिंदुस्तान या दूसरा कोई भी देश अगर आज के यात्रिक ससार की हिंसा मे शामिल होगा तो उसे न्याय और लोकतत्र की भाषा तक छोड देनी होगी।

ब्रिटेन से आज हिंसात्मक सहयोग करने के लिए तैयार होने का अर्थ केवल अहिंसा का परित्याग ही नही है, बल्कि हिंसा के गहरे पानी में एकदम उतर जाना है। "हम हिंदुस्तान के बाहर आदमी नही भेजेंगे", यह कहना मुमकिन नहीं, क्योकि हिंदुस्तान का बचाव-जैसी कोई अलग चीज ही नही रह जाती। अफ्रीका का किनारा, भूमध्यसागर आदि सबको हिंदुस्तान की ही सरहदें मानना पडेगा। दूसरा कोई चारा नही।

अर्थात् काग्रेस की बीस साल की कमाई और उसकी बदौलत ससार में पैदा हुई आशा तो हवा हो ही गई, लेकिन साथ-साथ हिंदुस्तान की हजारो वर्ष की कमाई भी अकारथ गई। हिंदुस्तान का जितना इतिहास ज्ञात है, उसमें हिंदुस्तानी अपने देश के बाहर स्वेच्छापूर्वक सहार के लिए गए हो, ऐसा एक भी उदाहरण नही। यह भी सभव नही कि हम सिर्फ बचाव के लिए हिंसा करें, हमले के लिए नही। कोई भी मर्यादा नही रह सकती। 'अमर्यादा-पुरुषोत्तम' ही हमारे इष्टदेव होंगे, और हम उनकी पूर्ण उपासना करेंगे तभी सफल होंगे।

और फिर ससारभर से दुश्मनी मोल लेने का साहस हम किस बिरते पर

कर सकते हैं ? आज जितनी दूर तक दिखाई देता है, उतने का विचार किया जाय तो यही कहना होगा कि इग्लैंड के बल पर । इस बात पर भी विचार करना जरूरी है । जिस राष्ट्र में जमीन का औसत फी आदमी एक एकड है उस राष्ट्र के लिए—अगर वह दूसरे राष्ट्रो को लूटने का खयाल छोड दे तो—चाहे वह कितना ही जोर क्यो न मारे, फौज पर ज्यादा खर्च करना नामुमकिन है । और सौभाग्य से हिंदुस्तान की आर्थिक परिस्थिति में कितनी ही उन्नति क्यो न हो, उसके लिए यह बात सभव भी नही है।

"हिंदुस्तान के लिए बहुत बडी फौज रखना मुमकिन नही, इसलिए उससे बिना फौज का रास्ता ही आसान पडगा"—यह बात जवाहरलालजी भी कभी-कभी कहा करते है । इस तरह का राष्ट्र स्वाश्रयी (अपने भरोसे) रहकर शस्त्र-निर्माण-कला का प्रयोग नही कर सकता । फलत उसे पराश्रित होकर (दूसरो के भरोसे ही) उस कला के प्रयोग करने होगे । इसका अर्थ क्या होगा ?—इग्लैंड से आज हम निरे स्वराज्य का ही नही, बल्कि बिल्कुल पक्के—पूर्ण स्वराज्य का वचन ले लेते है और वह उसे सप्रेम, सधन्यवाद और सब्याज (ब्याज सहित) लौटा देते है । भगवान ने अर्जुन को गीता का उपदेश देने के बाद उससे कहा, "तू अपनी इच्छा से जो कुछ करना हो सो कर ।" और फिर कहा, "सब कुछ छोडकर मेरी शरण आ ।" दोनो का सम्मिलित अर्थ यह है कि "तू अपनी खुशी से मेरी शरण आ ।" ईश्वर के लिए भक्त को यही करना चाहिए । इग्लैंड के लिए हमें भी वही करना होगा ।

नैष्ठिक अहिंसा को ताक पर रखकर सरकार से हिंसात्मक सहयोग—अर्थात् सरकार और दूसरे हिंसानिष्ठ लोगो के हिंसात्मक सहयोग की स्वीकृति—की नीति की यह सारी निष्पत्ति ध्यान में लाने पर यही कहना पडता है कि शस्त्रास्त्र और यादवो की सेना लेकर कृष्ण को छोडनेवाले अज्ञ दुर्योधन का ही अनुकरण हम कर रहे हैं । इसके बदले अगर काग्रेस अपनी अहिंसा मजबूत करे, अनायास मिलनेवाले स्वराज्य की आशा का ही नहीं, बल्कि कल्पना का भी त्याग कर दे, अपने सहयोग का अर्थ नैतिक सहयोग घोषित कर दे, और स्वराज्य का सबध वर्तमान युद्ध से न जोडकर जिस

प्रकार मिट्टी से श्री गणेशजी की मूर्ति का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार अपनी शक्ति से यथासमय अपने अभ्यंतर से स्वराज्य का निर्माण करने की कारीगरी अख्तियार कर ले, तो क्या यह सब प्रकार से उत्तम नही है?

ऐसा स्वराज्य किसीके टालने से टल नही सकता। सूर्य भगवान् के समान वह सहज ही उदित होगा। सूर्य तो पूर्व दिशामे उदय होता है, लेकिन उसका प्रकाश और गरमी ठेठ पश्चिम तक सभी दिशाओ मे फैलती है। स्वराज्य के विषय मे भी यही होगा। उसका जन्म तो हिंदुस्तान मे होगा, लेकिन उसकी बदौलत सारी दुनिया के लिए मुक्ति का रास्ता खुल जायगा। उसका शत्रु पैदा होने से पहले ही मर जायगा। भीतरी दगे-फसाद की सभावना मिटाकर ही उस स्वराज्य का आविर्भाव हुआ होगा, इसलिए भीतरी कलह के निवारण का सवाल सामने आयगा ही नही। यही हाल बाह्य आक्रमण का भी होगा। या अगर यह मान भी लिया जाय कि इन दो समस्याओ के अवशेष कायम रहेगे तो भी उनको हल करना आज जितना कठिन मालूम होता है, उतना नही मालूम होगा। यह स्वराज्य कितनी ही देर मे क्यो न मिले तो भी वही जल्दी-से-जल्दी मिलेगा क्योकि वही 'स्वराज्य' होगा और वही चिरजीवी होगा।

लेकिन कुछ लोग यह शका करेगे कि हिंदुस्तान को क्या सचमुच अहिसा से स्वराज्य मिलेगा? यहा इस शका का विचार करने की जरूरत नही है, क्योकि यह शका ही नही है। यह तो निष्क्रिय लोगो का निश्चय है। वे यह जानते है कि हिंदुस्तान के लिए अहिसा से स्वराज्य प्राप्त करना सभव नही और उनका यह विश्वास है कि अहिसा से कभी किसीको स्वराज्य मिल ही नही सकता। इसलिए निष्क्रिय रहकर आलोचनात्मक साहित्य की वृद्धि करना उनका निश्चित कार्यक्रम है। तब उनके पीछे पडने से क्या फायदा? इसके अलावा, काग्रेस आज तक यह मानती है कि सगठित अहिसा ही स्वराज्य का एकमात्र व्यवहार्य साधन है, और ऐसे विचारवाले लोगो के ही लिए यह लेख है।

लेकिन काग्रेसवालो के दिमाग मे कुछ दूसरी तरह की गडबडी पैदा हो रही है। एक व्यवस्थित सरकार का सामना करके स्वराज्य प्राप्त करना और

एकाएक होनेवाले बाहरी हमले या अदरूनी लडाई-झगडो का निवारण करना, दोनो उन्हे बिलकुल भिन्न कोटि की समस्याए प्रतीत होती है। उनके सामने यह जटिल समस्या है कि पहली बात तो हम अपनी टूटी-फूटी अहिंसा मे साध सकते है, लेकिन दूसरी बात बलवानो की नैष्ठिक अहिंसा के बिना सध ही नही सकती। वह नैष्ठिक अहिंसा हम कहा से लाय?

मेरे नम्र विचार मे यह एक भ्रम है और इसका निवारण होना नितात आवश्यक है। जिस प्रकार स्वराज्य-प्राप्ति नैष्ठिक अहिंसा के बिना असभव है उसी प्रकार स्वराज्य-रक्षण भी नैष्ठिक अहिंसा के बिना असभव है। अबतक दुर्बलो की अहिंसा का एक प्रयोग हमने किया। उसकी बदौलत थोडी-बहुत सत्ता मिली या मिलने का आभास हुआ। मै 'आभास' कहता हू, कारण, काग्रेस के शासन-काल मे जो-जो विचित्र घटनाए घटी, उन्हें हम जानते ही है। फिर भी, उसे आभास कहने के बदले यही मान लिया जाय कि हमने थोडी-बहुत सत्ता प्राप्त कर ली। परन्तु इस सत्ताभास अथवा इस अल्प सत्ता में और जिसे हम स्वराज्य कहते है और जिसके पीछे 'पूर्ण' विशेषण लगाये बिना हमारी आत्मा को कल नही पडती, उस हमारे उद्घोषित ध्येय मे जमीन आसमान का अन्तर है। यह अतर चाहे जैसी मिलावटी और अव्यवस्थित अहिंसा से नही काटा जा सकता। उसके लिए बलवानो की पराक्रमी अहिंसा की ही जरूरत होगी, यह समझ लेने का समय अब आगया है। जितनी जल्दी हमारी समझ मे यह बात आ जायगी, उतनी ही जल्दी हमारे विचारो की गुत्थिया सुलझ जायगी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वराज्य गणेशजी की वह मूर्ति है जिसका निर्माण हमें मिट्टी मे से करना है। नदी के प्रवाह के साथ बहकर आने वाला वह नर्मदा-गणेश नही है। हमारे कुछ बुजुर्गो और बडे-बूढो की यह समझ हो गई है कि हमने जो कुछ थोडा-बहुत अहिंसा का प्रदर्शन किया है, उससे मानो भगवान् प्रसन्न होगए है और उन प्रसन्न भगवान् ने हमारे सकट-मोचन के लिए यह युद्ध भेज दिया है। शुद्ध भाव से किये हुए हमारे उस अल्पतम प्रयत्न और भगवान् की इस अपरपार कृपा के सयोग से अब

हमारा कार्य जल्दी ही सिद्ध होनेवाला है। इस कल्पना के भवर जाल में पडने के कारण हम इस गफलत मे है कि हमारी कमजोर अहिंसा भी हमें स्वराज्य में बरबस ढकेल कर ही रहेगी। लेकिन इसके विपरीत अनुभव हुआ और इग्लैंड ने सचमुच हमें स्वराज्य दे भी दिया तो भी वास्तव में स्वराज्य नही मिलता, अपनी यह राय मैं ऊपर पेश कर चुका हू।

तब यह सवाल उठता है कि "क्या आप व्यवस्थित सरकार से लोहा लेना और बाह्य आक्रमण तथा भीतरी अराजकता का प्रतीकार करना, इन दो बातो में कोई फर्क ही नही करते ?" उत्तर यह है कि "करते है और नही भी करते।" एक क्षेत्र में दुर्बल अहिंसा से काम चल जायगा और दूसरे क्षेत्र में बलवती अहिंसा की आवश्यकता होगी, इस तरह का कोई फर्क हम नही करते। यदि स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वराज्य हो तो दोनो क्षेत्रो में बलवती अहिंसा की आवश्यकता होगी। लेकिन व्यवस्थित सरकार से टक्कर लेने में उसकी जो कसौटी होगी, उससे भिन्न प्रकार की कसौटी दूसरे क्षेत्रो के लिए होगी, यह फर्क हम करते हैं। उसमें भी मै भिन्न प्रकार की कसौटी करता हू। अधिक कडी कसौटी भी निश्चित रूप से नही करता और न 'कम कडी' ही करता हूं।

इसपर कुछ लोग कहते हैं, "तुम्हारी सारी बातें मजूर हैं, लेकिन व्यक्ति की हैसियत से। नैष्ठिक अहिंसा में हमारी श्रद्धा है। हम उसकी तैयारी भी करेंगे। लेकिन हम जनता के प्रतिनिधि है। इसलिए हमारे सिर्फ पैर ही नही लडखडाते, दिमाग भी डगमगाने लगता है। क्या आज की स्थिति में जनता के लिए अहिंसा हितकर होगी ? हमारी राय मे न होगी।"

इसके जवाब में दूसरे कहते है "अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी से फैसला करा लें।"

मै कहता हू, "यह सारी विचारधारा ही अनुपयुक्त है। आम जनता—जिसकी गिनती चालीस करोड से की जाती है, वह जनता—हिंदुस्तान की जनता-जैसी प्राचीन और अनुभवी जनता—अनेक मानव-समूह से बनी हुई जनता—बिना किसीसे पूछे-ताछे अहिंसक मान ली जानी चाहिए। उसे

बरबस हिंसा के दल में ढकेलना या उसकी अहिंसकता का सबूत 'अखिल भारतीय' नाम धारण करनेवाली कांग्रेस-कमेटी से मांगना नाहक समय नष्ट करना है। हिंदुस्तान की जनता अहिंसक, अहिंसक और अहिंसक ही है। वह 'अहिंसावादी' नही है। वह 'वाद' तो उसके नाम पर विद्वान् सेवको को खडा करना है। वह 'अहिंसाकारी' भी नही है। यह कार्य उसकी तरफ से उसके सत्याग्रही सेवको को करना है। उन दो को मिलाकर उससे 'क्या तू अहिंसावादी है?' और 'क्या तू अहिंसाकारी है ?' ऐसा ऊटपटांग प्रश्न नही पूछना चाहिए। अगर व्यक्तिगत रूप से अहिंसा में हमारी श्रद्धा हो तो अहिंसा से शक्ति का निर्माण करना हमारा कर्तव्य है। इस कार्य में जनता का उत्तम आशीर्वाद सदा हमारे साथ है। अहिंसा-जैसे प्रश्न के विषय में जनता के मत-परिज्ञान की जरूरत नही, उसका स्वभाव-परिज्ञान काफी है।

इसपर फिर कुछ लोग कहते हैं, "यह भी माना, लेकिन हमारा प्रश्न तो तुरत का है। अगर अहिंसा का आग्रह लेकर बैठ जायगे तो हम तैयारी तो करेंगे, शक्ति भी प्राप्त करेंगे और यथासभव सिद्धि भी प्राप्त कर लेंगे, लेकिन वर्तमान काल में तो हम बिल्कुल ही एक कोने में पडे रहेंगे। दूसरे आगे आयगे। सरकार उनकी सहायता ले लेगी और राजनीति में हम पीछे छूट जायगे।"

कोई हर्ज नही। हमें राजकरण (राजनीति) से सरोकार ही नही। हमें तो स्वराज्यकरण (स्वराज्य-नीति) से मतलब है। जैसा कि गाधीजी ने लिखा है, "जो आगे बढेंगे, वे तो भी हमारे भाई-बद ही होंगे।" मैं तो कहता हू कि अपनी इस पवित्र स्वराज्य-साधना में ईश्वर से हम यही प्रार्थना करें कि वह हमें चाहे जिस कोने में फेंक दे, लेकिन भ्रम या मोह में न डाले। हम स्वराज्य-साधक है, हमें राज्य-कामना का स्पर्श न हो।

'नत्वह कामये राज्यम्।'

२२-७-४०

: ३४ :

सेवा व्यक्ति की; भक्ति समाज की

बीस बरस से मैंने कुछ किया है तो सार्वजनिक काम ही किया है। जब विद्यार्थी अवस्था में था तब भी मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक सेवा की ही थी। यो यह समझे हैं कि जीवन मे मैंने सिवा सार्वजनिक सेवा के न कुछ किया है, न करने की इच्छा ही है। पर मेरा आशय है कि जिस प्रकार सार्वजनिक सेवा और लोगो ने की है वैसी मैंने नही की। सबेरे एक भाई ने मुझसे पूछा, "आप काग्रेस म नही जायगे क्या ?" मैंने कहा कि, "मैं तो काग्रेस मे कभी नही गया।" सेवा की मेरी पद्धति और प्रवृत्ति काग्रेस मे जाना और वहा बहस करना नही रही है। इसका महत्व मैं जानता हू सही, पर यह मेरेलिए नही है। मैं काग्रेस की प्रवृत्तिया से अनभिज्ञ नही हू। विचार करनेवाले भाई तो बहुत है। मैं तो उन लोगो में हू जो मूक सेवा करना चाहते हैं। फिर भी मेरी सेवा उतनी मूक नही हो सकी जितनी कि मैं चाहता हू। मेरी सेवा का उद्देश्य भक्ति-भाव है। भक्ति-भाव से ही मैं सेवा करता हू और बीस साल से प्रत्यक्ष सेवा कर रहा हू। प्रचार अभी तक न किया है और न आगे करने की सभावना ही है।

मैंने एक सूत्र-सा बना लिया है, "सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की।" व्यक्ति की भक्ति मे आसक्ति बढती है, इसलिए भक्ति समाज की करनी चाहिए। सेवा समाज की करना चाहे जो कुछ भी नही कर सकते। समाज तो एक कल्पनामात्र है। कल्पना की हम सेवा नही कर सकते। माता की सेवा करनेवाला लडका दुनिया भर की सेवा करता है, यह मेरी धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तु की ही हो सकती है, अप्रत्यक्ष वस्तु की नही। समाज अप्रत्यक्ष, अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है। सेवा तो वह है जो परमात्मा तक पहुचे। आज-कल सेवा की कुछ अनोखी-सी पद्धति देखने मे आती है। सेवा के लिए हम विशाल क्षेत्र चाहते हैं। पर अगर असली सेवा करनी है, सेवामय बन जाना

है, अपनेको सेवा में खपा देना है, तो किसी देहात मे चले जाइए। मुझसे एक भाई ने कहा कि "बुद्धिशाली लोगो से आप कहते है कि देहात में चले जाइए। विशाल बुद्धि के विस्तार के लिए उतना लबा-चौडा क्षेत्र वहा कहा है ?" मैंने कहा कि, "ऊचाई तो है, अनत आकाश तो है ? वह लबा सफर नही कर सकता। पर ऊचा सफर तो कर सकता है, गहरा तो जा सकता है ?" सत इतने ऊचे चढते थे कि उसका कोई हिसाब नही मिलता। कोई बडे-से-बडा विज्ञानवेत्ता भी आकाश की ऊचाई मालूम नही कर सकता। देहात मे हम लबा-चौडा नही, पर ऊंचा सफर कर सकते है। वहा ऊचे-से-ऊचे चढने का अवसर है। ऊची या गहरी सेवा वहा खूब हो सकती है। हमारी वह एकाग्र-सेवा प्रथम श्रेणी की सेवा हो जायगी और फलदायक भी होगी।

राष्ट्र के सारे प्रश्न देहात के व्यवहार मे आ जाते है। जितना समाजशास्त्र राष्ट्र में है, उतना एक कुटुब में भी आ जाता है, देहात में तो है ही। समाज-शास्त्र के अध्ययन के लिए गाव मे काफी गुजाइश है। मैं तो इस विश्वास को बुद्धि का अभाव ही मानूगा कि प्रौढ विवाह प्रचलित होने से भारतवर्ष सुधर गया और बाल-विवाह से बिगड गया था। प्रौढ-विवाह मे भी अक्सर वैवाहिक आनद देखने मे नही आता और बाल-विवाह के भी ऐसे उदाहरण देखे गये है जिनमें पति-पत्नी सुख-शाति से रहते है। विवाह-सस्था मे सयम की पवित्र भावना कैसे आये, यह मसला हमने हल कर लिया तो सबकुछ कर लिया। विवाह का उद्देश्य ही यह है। इसी प्रकार हिन्दुस्तान की राजनीति का नमूना भी देहात में पूरा-पूरा मिल जाता है। एक देहात की भी जनता को हमने आत्म निर्भर कर दिया तो बहुत बडा काम कर दिया। वहा के अर्थशास्त्र को कुछ व्यवस्थित कर दिया तो बहुत-कुछ हो गया। मुझे आशा है कि देहाती भाई-बहनो के बीच में रहकर आप उनके साथ एकरस हो जायगे। हा, वहा जाकर हमें उनके साथ दरिद्र-नारायण बनना है, पर 'बेवकूफ-नारायण' नही। अपनी बुद्धि का उनके लिए उपयोग करना है, निरहकार बनना है। हम यह न समझें कि वे सब निरे बेवकूफ ही होते है। भारत के देहातो का अनुभव और देशो की तरह चद सदियो का नही, कम-से-कम बीस हजार वर्ष का है। वहा जो

अनुभव है, उससे हमें लाभ उठाना है। ज्ञान-भंडार की तरह द्रव्य-भंडार भी यही से पैदा करना है और पूरी तरह से निरहकार बनकर उसमें प्रवेश करना है।

एक प्रश्न यह है कि सवर्ण हिंदू समझते है कि ये सुधारक तो गांव को बिगाड रहे है, सवर्णो के साथ हमारा उतना संबध नही जितना कि हरिजनो के साथ है। सवर्णो को अपनी प्रवृत्ति की ओर खीचने और उनकी शका दूर करने के विषय मे सोचा क्या गया है?

अस्पृश्यता-निवारण का काम हमे दो प्रकार से करना है। एक तो हरिजनो की आर्थिक अवस्था और उनकी मनोवृत्ति में सुधार करके और दूसरे हिंदू-धर्म की शुद्धि करके, अर्थात उसको उसके असली रूप मे लाकर। अस्पृश्यता माननेवाले सब दुर्जन है, यह हम न मानें। वे अज्ञान में है, ऐसा मान सकते है। वे दुर्जन या दुष्ट-बुद्धि नही है, यह तो उनके विचारो की सकीर्णता है। प्लेटो ने कहा था कि 'सिवा ग्रीक लोगो के मेरे ग्रथो का अध्ययन और कोई न करे।" इसका यह अर्थ हुआ कि ग्रीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मनुष्य की आत्मा व्यापक है, पर अव्यापकता उसमे रह ही जाती है। आखिर मनुष्य की आत्मा एक देह के अदर बसी हुई है। इसलिए सनातनियो के प्रति खूब प्रेमभाव होना चाहिए। हमें उनका विरोध नही करना चाहिए। हम तो वहा बैठकर चुपचाप सेवा करें। हरिजनो के साथ-साथ जहा जब अवसर मिले, सवर्णो की भी सेवा करें। एक भाई हरिजनो का स्पर्श नही करता, पर वह दयालु है। हम उसके पास जाय, उसकी दयालुता का लाभ उठाये। उसकी मर्यादा को समझकर उससे बात करें। थोडे दिन में उसका हृदय शुद्ध हो जायगा, उसके अतर का अधकार दूर हो जायगा। सूर्य की तरह हमारी सेवा का प्रकाश स्वत पहुच जायगा। हमारे प्रकाश में हमारा विश्वास होना चाहिए। प्रकाश और अधकार की लडाई तो एक क्षण में ही खत्म हो जाती है। लेकिन तरीका हमारा अहिंसा का हो प्रेम का हो। मेरी मर्यादा यह है कि मै दरवाजा ढकेल कर अदर नही चला जाऊगा। मै तो सूर्य की किरणो का अनुकरण करूगा। दीवार में छप्पर मे या किवाड मे कही जरा-सा भी छिद्र होता है तो किरणे

चुपचाप अंदर चली जाती है। यही दृष्टि हमें रखनी चाहिए। हममें जो विचार हैं, वह प्रकाश है, यह मानना चाहिए। किसी गुफा का एक लाख वर्ष का भी अंधकार एक क्षण में ही प्रकाश से दूर हो जायगा। लेकिन यह होगा अहिंसा के ही तरीके से। सनातनियों को गालियां देना तो अहिंसा का तरीका नहीं है। हमें मुंह से खूब तौल-तौलकर शब्द निकालने चाहिए। हमारी वाणी की कटुता यदि चली गई तो उनका हृदय पलट जायगा। ऐसी लड़ाई आज की नहीं, बहुत पुरानी है। संतों का जीवन अपने विरोधियों के साथ झगड़ने में ही बीता। पर उनके झगड़ने का तरीका प्रेम का था। जिस भगवान् ने हमें बुद्धि दी है, उसीने हमारे प्रति-पक्षियों को भी दी है। आज से पंद्रह-बीस वर्ष पहले हम भी तो उन्हीं की तरह अस्पृश्यता मानते थे। हमारे संतों ने तो आत्मविश्वास के साथ काम किया है। वाद-विवाद में पड़ना हमारा काम नहीं। हम तो सेवा करते-करते ही खत्म हो जायं। हमारे प्रचार-कार्य का सेवा ही विशेष साधन है। दूसरों के दोष बताने और अपने गुण सामने रखने का मोह हमें छोड़ देना चाहिए। मां अपने बच्चे के दोष थोड़े ही बताती है, वह तो उसके ऊपर प्रेम की वर्षा करती है, उसके बाद फिर कहीं दोष बतलाती है। असर ऐसी ही प्रेममयी सेवा का होता है।

: ३५ :

ग्राम-सेवा और ग्राम-धर्म

जब हम सेवा करने का उद्देश्य लेकर देहात में जाते हैं तब हमें यह नहीं सूझता कि कार्य का आरंभ किस प्रकार करना चाहिए। हम शहरों में रहने के आदी होगए हैं। देहात की सेवा करने की इच्छा ही हमारा मूलधन—हमारी पूंजी होती है। अब सवाल यह खड़ा हो जाता है कि इतनी थोड़ी पूंजी से व्यापार किस तरह शुरू करें। मेरी सलाह तो यह है कि हमें देहात में जाकर व्यक्तियों की सेवा करने की तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए, न कि सारे

समाज की तरफ। सारे समाज के समीप पहुंचना संभव ही नहीं है। रणभूमि में लड़नेवाले सिपाही से अगर हम पूछें कि किसके साथ लड़ता है तो वह कहेगा "शत्रु के साथ।" लेकिन लड़ते समय वह अपना निशाना किसी एक ही व्यक्ति पर लगाता है। ठीक इसी प्रकार हमें भी सेवा-कार्य करना होगा। समाज अव्यक्त है, परंतु व्यक्ति व्यक्त और स्पष्ट है। उसकी सेवा हम कर सकते हैं। डाक्टर के पास जितने रोगी जाते हैं, उन सबको वह दवा देता है, मगर हरएक रोगी का वह ख्याल नहीं रखता। प्रोफेसर सारे क्लास को पढ़ाता है, पर हरएक विद्यार्थी का वह ध्यान नहीं रखता। ऐसी सेवा से बहुत लाभ नहीं हो सकता। यह डाक्टर जब कुछ रोगियों के व्यक्तिगत संपर्क में आयगा, या प्रोफेसर जब कुछ चुने हुए विद्यार्थियों पर ही विशेष ध्यान देगा, तभी वास्तविक लाभ हो सकेगा। हां, इतना खयाल हमें जरूर रखना होगा कि *व्यक्तियों की सेवा करने में अन्य व्यक्तियों की हिंसा, नाश, या हानि न हो। देहात में जाकर इस तरह अगर कोई कार्यकर्ता सिर्फ पच्चीस व्यक्तियों की ही सेवा कर सका, तो समझना चाहिए कि उसने काफी काम कर लिया।* ग्राम-जीवन में प्रवेश करने का यही सुलभ तथा सफल मार्ग है। मैं यह अनुभव कर रहा हूं कि जिन्होंने मेरी व्यक्तिगत सेवा की है, उन्होंने मेरे जीवन पर अधिक प्रभाव डाला है। बापूजी के लेख मुझे कम ही याद आते हैं, लेकिन उनके हाथ का परोसा हुआ भोजन मुझे सदा याद आता है। और मैं मानता हूं कि उससे मेरे जीवन में बहुत परिवर्तन हुआ है। यह है व्यक्तिगत सेवा का प्रभाव। व्यक्तियों की सेवा में समाज-सेवा का निषेध नहीं है। समाज गीता की भाषा में अनिर्देश्य है, निर्गुण है और व्यक्ति सगुण और साकार, अतः *व्यक्ति की सेवा करना आसान है।*

दूसरी और सूचना मैं करना चाहता हूं। हमें देहातियों के सामने ग्राम-सेवा की कल्पना रखनी चाहिए, न कि राष्ट्र-धर्म की। उनके सामने राष्ट्र-धर्म की बातें करने से लाभ न होगा। ग्राम-धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सहज है, उतना राष्ट्र-धर्म नहीं। इसलिए हमें उनके सामने ग्राम-धर्म ही रखना चाहिए, राष्ट्र-धर्म नहीं। इसमें भी वही बात है, जो व्यक्ति-सेवा के

विषय में मैंने ऊपर कही है। ग्राम-धर्म सगुण, साकार और प्रत्यक्ष होता है, राष्ट्र धर्म, निर्गुण, निराकार और परोक्ष होता है। बच्चे के लिए त्याग करना मा को सिखाना नही पडता। आपस के झगडे मिटाना, गाव की सफाई तथा स्वास्थ्य का ध्यान रखना, आयात-निर्यात की वस्तुओ और ग्राम के पुराने उद्योगो की जाच करना, नए उद्योग खोज निकालना, इत्यादि गावो के जीवन-व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली हरएक बात ग्राम-धर्म में आ जाती है। पुरानी पचायत पद्धति नष्ट हो जाने से देहात की बडी हानि हुई है। झगडे निपटाने में पचायत का बहुत उपयोग होता था। अभी इस असेंबलीके चुनाव से हमें यह अनुभव हुआ है कि देहातियो को राष्ट्र-धर्म समझाना कितना कठिन है। सरदार वल्लभभाई और प मालवीयजी के बीच मतभेद हो गया, अब इसमे बेचारा देहाती समझे तो क्या समझे ? उसके मन में दोनो ही नेता समान रूप से पूज्य है। वह किसे माने और किसे छोडे ? इसलिए ग्राम-सेवा में हमें ग्राम-धर्म ही अपने सामने रखना चाहिए। वैदिक ऋषियो की भाति हमारी भी प्रार्थना यही होनी चाहिए कि 'ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्"—हमारे ग्राम में बीमारी न हो।

तीसरी बात जो मैं कहना चाहता हू, वह है सेवक के रहन-सहन के सबध की। सेवक की आवश्यकताए देहातियो से कुछ अधिक होने पर भी वह ग्राम-सेवा कर सकता है। लेकिन उसकी वे आवश्यकताए विजातीय नही, सजातीय होनी चाहिए। किसी सेवक को दूध की आवश्यकता है, दूध के बिना उसका काम नही चल सकता, और देहातियो को तो घी-दूध आजकल नसीब नहीं होता, तो भी देहात में रहकर वह दूध ले सकता है, क्योकि दूध सजातीय अर्थात् देहात में पैदा होनेवाली चीज है। किन्तु सुगन्धित साबुन देहात में पैदा होनेवाली चीज नही है, इसलिए साबुन को विजातीय आवश्यकता समझना चाहिए और सेवक को उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। कपडे साफ रखने की बात लीजिए। देहाती लोग अपने कपडे मैले रखते है, लेकिन सेवक को तो उन्हें कपडे साफ रखने के लिए समझाना चाहिए। इसके लिए बाहर से साबुन मगाना और उसका प्रचार करना मैं ठीक नही समझता। देहात में

कपडे साफ रखने के लिए जो साधन उपलब्ध है, या हो सकते है, उन्हीका उपयोग करके कपडे साफ रखना और लोगो को उसके विषय में समझाना सेवक का धर्म हो जाता है। देहात में उपलब्ध होनेवाले साधनो से ही जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति करने की ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी,चाहिए। सजातीय वस्तु का उपयोग करने में सेवक को विवेक और सयम की आवश्यकता तो रहती ही है। अखबार का शौक देहात मे पूरा न हो सकेगा।

मै जो खास बातें यहा कहना चाहता था, वे तो मैने कह दी। अब दो-तीन और बातें कहकर अपना वक्तव्य समाप्त करूगा। खादी-प्रचार के कार्य में अभी तक चरखे का ही उपयोग हुआ है। एक लाख के इनामवाले चरखे की अभी खोज हो रही है। मै उसे एक लाख का चरखा कहता हू। लेकिन मेरे पास तो एक सवा लाख का चरखा है और वह है तकली। मै सचमुच ही उसे सवा लाख का चरखा मानता हू। खादी-उत्पत्ति के लिए चरखा उत्तम है, लेकिन सार्वजनिक वस्त्र स्वावलम्बन के लिए तकली ही उपयुक्त है। नदी का पाट चाहे कितना ही बडा क्यो न हो वह वर्षा का काम नही दे सकता। नदी का उपयोग तो नदी के तट पर रहनेवाले ही कर सकते है। पर वर्षा सबके लिए है। तकली वर्षा के समान है। जहा कहीं वह चलेगी,वहा वस्त्र स्वावलम्बन का कार्य अच्छी तरह चलेगा। मुझसे बिहार के एक भाई कहते थे कि वहा मजदूरी के लिए भी तकली का उपयोग हो रहा है। तकली पर कातनेवालो को वहा हफ्ते में तीन-चार पैसे मिल जाते है। लेकिन उनके कातने की जो गति है, वह तीन या चार गुनी तक बढ सकती है। गति बढाने से मजदूरी भी तीन या चार या पाच गुनी तक मिल सकेगी। यह कोई मामूली बात नही है। हमारे देश में एक व्यक्ति को १४-१५ गज कपडा चाहिए। इसके लिए प्रति दिन सिर्फ एक सौ तार कातने की जरूरत है, यह काम तकली पर आध घटे मे हो सकता है। चरखा बिगडता भी रहता है पर तकली तो हमेशा ही आपकी सेवा मे हाजिर रहती है। इसलिए मै उसे सवा लाख का चरखा मानता हू।

देहात में सफाई का काम करनेवाले सेवक कहते है कि कई दिन तक यह

काम करते रहने पर भी देहाती लोग हमारा साथ नहीं देते। यह शिकायत ठीक नहीं। स्वधर्म समझकर ही अगर हम यह काम करेंगे तो अकेले रह जाने पर उसका दुख हमें न होगा। सूर्य अकेला ही होता है न? यह मेरा काम है, दूसरे करें या न करें, मुझे तो अपना काम करना ही चाहिए—यह समझकर जो सेवक कार्यारम्भ करेगा, उसको सिंहावलोकन करने की यानी यह देखने की कि मेरे पीछे मदद के लिए कोई और है या नहीं, आवश्यकता ही न रहेगी। सफाई-सबधी सेवा है ही ऐसी चीज कि वह व्यक्तियों की अपेक्षा समाज की ही अधिकतया होगी और होनी चाहिए। परन्तु सेवक की दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते, इसलिए उसे पूरा करना उसका कर्तव्य हो जाता है। उसमे सेवक का स्वार्थ भी है, क्योंकि मार्ग की गन्दगी का असर उसके स्वास्थ्य पर भी अवश्य पड़ता है।

ओषधि-वितरण में एक बात का हमेशा खयाल रखना चाहिए कि हम अपने कार्य से देहातियों को पगु तो नहीं बना रहे हैं। उनको तो स्वावलम्बी बनाना है। उनको स्वाभिमक्त तथा सयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिए। रोग की दवाइयां देने की अपेक्षा हमें ऐसा जतन करना चाहिए कि रोग होने ही न पाय। यह काम देहातियों को अच्छी और स्वच्छ आदतें सिखाने से ही हो सकता है।

: ३६ :

साहित्य उल्टी दिशा में

पिछले दिनों एक बार हमने इस बात की खोज की थी कि देहात के साधारण पढ़े लिखे लोगों के घर में कौन-सा मुद्रित वाङ्मय (छपा हुआ साहित्य) पाया जाता है। खोज के फलस्वरूप देखा गया कि कुल मिलाकर पाच प्रकार का वाङ्मय पढ़ा जाता है।

(१) समाचारपत्र, (२) स्कूली किताबें, (३) उपन्यास, नाटक

गल्प, कहानिया आदि (४) भाषा मे लिखे हुए पौराणिक और धार्मिक ग्रथ, (५) वैद्यक-सबधी पुस्तके।

उससे यह अर्थ निकलता है कि हम यदि लोगो के हृदय उन्नत करना चाहते है तो उक्त पाच प्रकार के वाङमय की उन्नति करनी चाहिए।

पारसाल का जिक्र है। एक मित्र ने मुझसे कहा, "मराठी भाषा कितनी ऊची उठ सकती है, यह ज्ञानदेव ने दिखाया, और वह कितनी नीचे गिर सकती है, यह हमारे आज के समाचारपत्र बता रहे है।" (साहित्य-सम्मेलन के) अध्यक्ष की आलोचना और हमारे मित्र के उद्गार का अर्थ "प्राधान्येन व्यपदेश." सूत्र के अनुसार निकालना चाहिए। अर्थात् उनके कथन का यह अर्थ नही लेना चाहिए कि सभी समाचारपत्र अक्षरश प्रशात महासागर की तह तक जा पहुचे है। मोटे हिसाब से परिस्थिति क्या है, इतना ही बोध उनके कथनो से लेना चाहिए। इस दृष्टि से दुखपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि यह आलोचना यथार्थ है।

लेकिन इसमें दोष किसका है ? कोई कहता है कि सपादको का, कोई कहता है पाठको का, कोई कहता है पूजीपतियो का। गुनाह में तीनो ही शरीक है, और "कमाई का हिस्सा" तीनो को बराबर-बराबर मिलनेवाला है, इसमे किसीको कोई शक नही। परन्तु मेरे मत से—अपराधी ये तीनो भले ही हो—अपराध करनेवाला दूसरा ही है, और वही इस पाप का वास्तविक 'धनी' है। वह कौन है ?—साहित्य की व्याख्या करनेवाला चटोर अथवा रुचि-भ्रष्ट साहित्यकार।

'विरोधी विवाद का बल, दूसरो का जी जलाना, जली-कटी या तीखी बातें कहना, मखौल (उपहास) छल (व्यग्य) मर्मभेद (मर्मस्पर्श) आडी-टेढी सुनाना (वक्रोक्ति), कठोरता पेचीदगी, सदग्धिता, प्रतारणा (कपट)"—ज्ञानदेव ने ये वाणी के दोष बताये है। परन्तु हमारे साहित्यकार तो ठीक उन्ही अवगुणो को 'वाग्भूषा' या साहित्य की सजावट मानते है। पिछले दिनो एक बार रामदास की 'ओछी तबीयतवालो को विनोद भाता है', इस उक्ति पर कई साहित्यिक बडे गरम होगये थे। रामदास के आशय पर

ध्यान देकर, उससे उचित उपदेश लेने के बदले, इन लोगों ने यह आविष्कार किया कि विनोद का जीवन और साहित्य में जो स्थान है, रामदास वही नही समझ पाए थे। उपहास, छल, मर्मस्पर्श आदि ज्ञानदेव ने अस्वीकार किये, इसे भी हमारे साहित्यकार—अपनी साहित्य की परिभाषा के अनुसार—ज्ञानदेव के अज्ञान का ही फल समझेंगे।

ज्ञानदेव या रामदास को राष्ट्र-कल्याण की लगन थी और हमारे विद्वानो को चटपटी भाषा की चिन्ता रहती है, चाहे उससे राष्ट्रघात ही क्यो न होता हो—यह इन दोनो में मुख्य भेद है। हमारी साहित्य-निष्ठा ऐसी है कि चाहे सत्य भले ही मर जाय, साहित्य जीता रहे।

"हे प्रभो, अभी तक मुझे पूर्ण अनुभव नही होता है। तो क्या, मेरे देव! मैं केवल कवि ही बनकर रहूं।" —इन शब्दो में तुकाराम ईश्वर से अपना दुखडा रोते है और ये (साहित्यकार) खोज रहे है कि तुकाराम के इस वचन में काव्य कहातक सधा है! हमारी पाठशालाओ की शिक्षा का सारा तरीका ही ऐसा है। मैंने एक निबन्ध पढा था। उसमे लेखक ने तुलसीदास की शेक्सपियर से तुलना की थी और किसका स्वभाव चित्रण किस दर्जे का है, इसकी चर्चा की थी। मतलब यह कि जो तुलसीदास की रामायण हिन्दुस्तान के करोडो लोगो के लिए—देहातियो के लिए भी—जीवन की मार्ग-प्रदर्शक पुस्तक है, उसका अध्ययन भी यह भला आदमी स्वभाव चित्रण की शैली की दृष्टि से करेगा। शायद कुछ लोगो को मेरे कथन में कुछ अतिशयता प्रतीत हो, लेकिन मुझे तो कई बार ऐसा ही जान पडता है कि इन शैली-भक्तो ने राष्ट्र के शील की हत्या का उद्योग शुरू किया है।

शुकदेव का एक श्लोक है, जिसका भावार्थ यह है कि 'जिसमें जनता का चित्त शुद्ध होता है, वही उत्तम साहित्य है।" जो साहित्य-शास्त्रकार कहलाते है, और जिनसे आज हम प्रभावित है, वे यह व्याख्या स्वीकार नही करते। उन्होंने तो शृंगार से लेकर बीभत्स तक विभिन्न रस माने है और यह निश्चित किया है कि साहित्य वही है जिसमें ये रस हो। साहित्य की यह समूची व्याख्या स्वीकार कर लीजिए, उसमें कर्तव्य-शून्यता मिला दीजिए, फिर कोई भी

बतला दे कि आज के मराठी समाचार-पत्रो मे जो पाया जाता है, उसके सिवा और किस साहित्य का निर्माण हो सकता है ?

: ३७ :

लोकमान्य के चरणों में

आज का नैमित्तिक धर्म लोकमान्य का पुण्य स्मरण है। आज तिलक की पुण्यतिथि है।

१९२० मे तिलक शरीर रूप से हमारे अन्दर नही रहे। उस समय मै बबई गया था। चार-पाच दिन पहले ही पहुचा था। परन्तु डाक्टर ने कहा, "अभी कोई डर नही है।" इसीलिए मै एक काम से साबरमती जाने को रवाना हुआ। मै आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊगा कि मुझे लोकमान्य की मृत्यु का समाचार मिला। मेरे अत्यन्त निकट के आत्मीय, सहयोगी और मित्र की मृत्यु का जो प्रभाव हो सकता है, वही लोकमान्य के निधन का हुआ। मुझपर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिन मे जीवन मे कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो कोई बहुत ही प्रेम करनेवाला कुटुम्बी चल बसा हो। इसमे जरा भी अत्युक्ति नही है। आज इतने बरस होगये। आज फिर उनका स्मरण करता है। लोकमान्य के चरणो मे अपनी यह तुच्छ श्रद्धाजलि अपनी गहरी श्रद्धा के कारण मै चढा रहा हू।

तिलक के विषय मे जब मै कुछ कहने लगता हू तो मुह मे शब्द निकालना कठिन हो जाता है, गद्‌गद् हो उठता हू। साधु-सन्तो का नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है, वही इस नाम से भी होती है। मै अपने चित्त का भाव प्रकट ही नहीं कर सकता। उत्कट भावना को शब्दो मे व्यक्त करना कठिन होता है। गीता का भी नाम लेते ही मेरी यही स्थिति हो जाती है। मानो स्फूर्ति का सचार हो जाता है। भावनाओ की प्रचड बाढ आ जाती है। वृत्ति उमडने लगती है परन्तु यह बडप्पन मेरा नही है। बडप्पन गीता का है। यही हाल तिलक के

नाम का है। मैं तुलना नहीं करता। क्योंकि तुलना में सदा दोष आ जाते हैं। परन्तु जिनके नाम-स्मरण में ऐसी स्फूर्ति देने की शक्ति है, उन्हींमें से तिलक भी हैं। मानो उनके स्मरण में ही शक्ति संचित है। रामनाम को ही देखिए। कितने जड़ जीवों का इस नाम के स्मरण से उद्धार होगया, इसकी गिनती कौन करेगा? अनेक आन्दोलन, अनेक ग्रंथ, इतिहास, पुराण—इनमें से किसी भी चीज का उतना प्रभाव न हुआ होगा, जितना कि रामनाम का हुआ है और हो रहा है। राष्ट्रों का उदय हुआ और अस्त हुआ। राज्यों का विकास हुआ और लय हुआ। किन्तु रामनाम की सत्ता अबाधित रूप से विद्यमान है। तुलसीदास जी ने कहा है—'कहउं नाम बड़ राम तें।' हे राम, मुझे तुझसे तेरा नाम ही अधिक प्रिय है। तेरा रूप तो उस समय के अयोध्यावासियों ने और उस जमाने के नर-वानरों ने देखा। हमारे सामने तेरा रूप नहीं, लेकिन तेरा नाम है। जो महिमा तेरे नाम में है, वह तेरे रूप में नहीं। हे राम! तूने शबरी, जटायु आदि का उद्धार किया, लेकिन वे तो सुसेवक थे। इसमें तेरा बड़प्पन कुछ नहीं। परंतु तेरे नाम ने अनेक खलजनों का उद्धार किया, यह वेद कहते हैं।'

"शबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, बेद-बिदित गुन-गाथ॥

तुलसीदासजी कहते हैं, राम की महिमा गानेवाले मूढ़ हैं। राम ने तो बड़े-बड़े सेवकों का ही उद्धार किया। परन्तु नाम ने? नाम ने असंख्य जड़ मूढ़ों का उद्धार किया। शबरी तो असामान्य स्त्री थी। उसका वैराग्य और उसकी भक्ति कितनी महान् थी। वैसा ही वह जटायु था। इन श्रेष्ठ जीवों का, इन भक्तजनों का राम ने उद्धार किया। कौन बड़ी बात हुई! परन्तु रामनाम तो दुर्जनों को भी उबारता है। और दरअसल मुझे इसका अनुभव हो रहा है। मुझसे बड़ा खल दूसरा कौन हो सकता है? मेरे समान दुष्ट मैं ही हूं। मुझे इस विषय में दूसरा का मत जानने की जरूरत नहीं। नाम से उद्धार होता है। जिन्होंने पवित्र कर्म किये, अपना शरीर परमार्थ में खपाया, उनके नाम में ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

इसीमें मनुष्य की विशेषता है। आहार-विहारादि दूसरी बातो मे मनुष्य और पशु समान ही है। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य पशु या पशु से भी नीच बन सकता है, उसी प्रकार पराक्रम से, पौरुष से, वह परमात्मा के निकट भी जा सकता है। मनुष्य मे ये दोनो शक्तिया है। खूब मास और अडे वगैरहा खा कर, दूसरे प्राणियो का भक्षण कर वह शेर के समान हृष्ट-पुष्ट भी बन सकता है, या दूसरो के लिए अपना शरीर भी फेक सकता है। मनुष्य अपने लिए अनेको का घात करके पशु बन सकता है, या अनेको के लिए अपना बलिदान कर पवित्रनामा भी बन सकता है। पशु की शक्ति मर्यादित है। उसकी बुराई की भी मर्यादा है। लेकिन मनुष्य के पतन की या ऊपर उठने की कोई सीमा नही है। वह पशु से भी नीचे गिर सकता है और इतना ऊपर चढ़ सकता है कि देवता ही बन जाता है। जो गिरता है, वही चढ भी सकता है। पशु अधिक गिर भी नही सकता, इसलिए चढ भी नही सकता। मनुष्य दोनो बातो में पराकाष्ठा कर सकता है। जिन लोगो ने अपना जीवन सारे ससार के लिए अर्पण कर दिया, उनके नाम में बहुत बडी पवित्रता आ जाती है। उनका नाम ही तारे के समान हमारे सम्मुख रहता है। हम नित्य तर्पण करते हुए कहते है, 'वसिष्ठं तर्पयामि' 'भारद्वाज तर्पयामि' 'अत्रि तर्पयामि' इन ऋषियो के बारे मे हम क्या जानते है? क्या सात या आठ सौ पन्नो मे उनकी जीवनी लिख सकते है? शायद एकाध सफा भी नही लिख सकेगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वसिष्ठ—यह नाम ही काफी है। यह नाम ही तारक है और कुछ शेष रहे या न रहे, केवल नाम ही तारे के समान मार्ग-दर्शक होगा। प्रकाश देगा। मेरा विश्वास है कि सैकडो वर्षो के बाद तिलक का नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायगा। उनका जीवन-चरित्र आदि बहुत-सा नही रहेगा, किन्तु इतिहास के आकाश में उनका नाम तारे के समान चमकता रहेगा।

हमें महापुरुषो के चारित्र्य का अनुसरण करना चाहिए, न कि उनके चरित्र का। दरअसल महत्व चारित्र्य का है। शिवाजी महाराज ने सौ-दो-सौ किले बनाकर स्वराज्य प्राप्त किया। इसलिए आज यह नही समझना

चाहिए कि उसी तरह के किले बनाने से स्वराज्य प्राप्त होगा। किन्तु जिस वृत्ति से उन्होंने अपना जीवन बिताया और लड़ाई की, वह वृत्ति, वे गुण हमें चाहिए। जिस वृत्ति से शिवाजी ने काम किया, उस वृत्ति से हम आज भी स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए मैंने कहा है कि उस समय का स्वरूप हमारे काम का नहीं है, उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नहीं, चारित्र्य उपयोगी है। कर्तव्य करते हुए उनकी जो वृत्ति थी, वह हमारे लिए आवश्यक है। उनके गुणों का स्मरण आवश्यक है। इसीलिए तो हिन्दुओं ने चरित्र का बोझ छोड़कर नामस्मरण पर जोर दिया। इतने महान् व्यक्तियों का सारा चरित्र दिमाग में रखने की कोशिश करें तो उसीके मारे दम घुटने लगे। इसीलिए केवल गुणों का स्मरण करना है, चरित्र का अनुकरण नहीं।

एक कहानी मशहूर है। कुछ लड़कों ने 'साहसी यात्री' नाम की एक पुस्तक पढ़ी। फौरन यह तय किया गया कि जैसा उस पुस्तक में लिखा है, वैसा ही हम भी करें। उस पुस्तक में बीस-पच्चीस युवक थे। ये भी जहां-तहां से बीस-पच्चीस इकट्ठे हुए। पुस्तक में लिखा था कि वे एक जंगल में गये। फिर क्या था? ये भी एक जंगल में पहुंचे। पुस्तक में लिखा था कि उन लड़कों को जंगल में एक शेर मिला। अब ये बेचारे शेर कहां से लाये? आखिर उनमें से जो एक बुद्धिमान लड़का था, वह कहने लगा, "अरे भाई, हमने तो शुरू से आखीर तक गलती ही की। हम उन लड़कों की नकल उतारना चाहते हैं। लेकिन यहां तो सबकुछ उल्टा ही हो रहा है। वे लड़के कोई पुस्तक पढ़-

मुझे पावन प्रतीत होता है। उसी प्रकार आपको भी अवश्य होता होगा।

तिलक का पहला गुण कौन-सा था ? तिलक जातित ब्राह्मण थे। लेकिन जो ब्राह्मण नही है, वे भी उनका गुण स्मरण कर रहे है। तिलक महाराष्ट्र के मराठे थे। लेकिन पजाब के पजाबी और बगाल के बगाली भी उन्हें पूज्य मानते हैं। हिंदुस्तान तिलक का ब्राह्मणत्व और उनका मराठा-पन, सबकुछ भूल गया है। यह चमत्कार है। इसमें रहस्य है—दोहरा रहस्य है। इस चमत्कार मे तिलक का गुण तो है ही, हमारे पूर्वजो की कमाई का भी गुण है। जनता का एक गुण और तिलक का एक गुण—दोनो के प्रभाव से यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारत में सभी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं। दोनो के गुण की ओर हमे ध्यान देना चाहिए। इस अवसर मुझे अहल्या की कथा याद आ रही है। रामायण में मुझे अहल्या की कथा बहुत सुहाती है। राम का सारा चरित्र ही श्रेष्ठ है और उसमे यह कथा बहुत ही प्यारी है। आज भी यह बात नही कि हमारे अन्दर राम (सत्व) न रहा हो। आज भी राम है। राम-जन्म हो चुका है, चाहे उसका किसीको पता हो या न हो। परन्तु आज राष्ट्र में राम है, क्योंकि अन्यथा यह जो थोडा-बहुत तेज का सचार देख पडता है, वह न दिखाई देता। गहराई से देखे तो आज राम का अवतार हो चुका है। यह जो रामलीला हो रही है, इसमे कौन-सा हिस्सा लू, किस पात्र का अभिनय करू, यह मैं सोचने लगता हू। राम की इस लीला में मैं क्या बनू ? लक्ष्मण बनू ? नही, नही। उनकी-सी वह जागृति, वह भक्ति कहा से लाऊ। तो क्या भरत बनू ? नहीं, भरत की कर्तव्य-दक्षता, उत्तरदायित्व का बोध, उनकी दया-लुता और त्याग कहा से लाऊ ? हनुमान का तो नाम भी मानो राम का हृदय ही है। तो फिर गाठ में पुण्य नही है। इसलिए क्या रावण बनू ? ऊऽऽहू ! रावण भी नही बन सकता। रावण की उत्कटता, महत्वाकाक्षा मेरे पास कहा है ? फिर मैं कौन-सा स्वाग लू ? किस पात्र का अभिनय करू ? क्या कोई ऐसा पात्र नही है, जो मैं बन सकू। जटायु, शबरी ? —ये तो सुसेवक थे। अन्त में मुझे अहल्या नजर आई। अहल्या तो पत्थर

बनकर बैठी थी।

सोचा, मैं अहल्या का अभिनय करू। जड पत्थर बनकर बैठू। इतने में वह अहल्या बोल उठी, "सारी रामायण में सबसे तुच्छ जड मूढ पात्र क्या मै ही ठहरी? अरे बुद्धिमान, क्या अहल्या का पात्र सबसे निकृष्ट है? मुझमें क्या कोई योग्यता ही नही? अरे, राम की यात्रा मे तो अयोध्या से लेकर रामेश्वर तक हजारो पत्थर थे, उनका क्यो नही उद्धार हुआ? मै कोई नालायक पत्थर नही हू। मै भी गुणी पत्थर हू।" अहल्या की बात मुझे जच गई। परन्तु अहल्या के पत्थर में गुण थे, तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थर की नहीं। उसी प्रकार सारी महिमा राम के चरणो की भी नही। अहल्या के समान पत्थर और राम के चरणो-जैसे चरण, दोनो का सयोग चाहिए। न तो राम के चरणो से दूसरे पत्थरो का ही उद्धार हुआ और न किसी दूसरे के चरणो से अहल्या का ही।

इसे मै अहल्या-राम-न्याय कहता हू। दोनो के मिलाप से काम होता है। यही न्याय तिलक के दृष्टात पर घटित होता है। तिलक का ब्राह्मणत्व, महाराष्ट्रीयत्व, आदि सब भूलकर सारा हिंदुस्तान उनकी पुण्य-स्मृति मनाता है। इस चमत्कार में तिलक के गुण और जनता के गुण, दोनो का स्थान है। इस चमत्कार के दोनो कारण है। कुछ गुण तिलक का है और कुछ उन्हें माननेवाली साधारण जनता का। हम इन गुणो का जरा पृथक्करण करें।

तिलक का गुण यह था कि उन्होने जो कुछ किया, उसमें सारे भारतवर्ष का विचार किया। तिलक के फूल बम्बई में गिरे। इसलिए वहा उनके स्मारक मदिर होंगे। उन्होने मराठी में लिखा, इसलिए मराठी भाषा में उनके स्मारक होंगे। लेकिन तिलक ने जहा-कही जो कुछ किया—चाहे जिस भाषा में क्यो न किया हो, वह सब भारतवर्ष के लिए किया। उन्हे यह अभिमान नही था कि मै ब्राह्मण हू; मै महाराष्ट्र का हू। उनमें पृथक्ता की, भेद की भावना नही थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होने सारे भारतवर्ष का विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियो ने सारे भारतवर्ष का विचार किया, तिलक उनमें से एक थे। और जो दूसरे मेरी दृष्टि के सामने आते है, वह थे

महर्षि न्यायमूर्त्ति रानडे। तिलक ने महाराष्ट्र को अपनी जेब मे रक्खा और सारे हिन्दुस्तान के लिए लड़ते रहे। "हिन्दुस्तान के हित मे मेरे महाराष्ट्र का भी हित है, इसलिए पूने का हित है, पूने में रहनेवाले मेरे परिवार का हित है और परिवार में रहनेवाले मेरा भी हित है। हिन्दुस्तान के हित का विचार करने से उसीमें महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मै, सबके हित का विचार आ जाता है।" यह तत्त्व उन्होंने जान लिया था, और उसीके अनुसार उन्होंने काम किया। ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है, उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थान में करनी पड़ेगी। लेकिन उस मर्यादित स्थान मे रहकर की जानेवाली सेवा के पीछे जो वृत्ति रहेगी, वह विशाल, व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए।

शालग्राम मर्यादित है। लेकिन उसमे मैं जिस भगवान के दर्शन करता हू, वह सर्वब्रह्माड व्यापी, चर-अचर, जड-चेतन सबमे निवास करनेवाला ही है। तभी तो वह वास्तविक पूजा हो सकती है। **'जलेस्थले तथा काष्ठे विष्णुः पर्वत-मूर्धनि।'** उस त्रिभुवन व्यापक विष्णु को यदि वह पुजारी शालग्राम में न देखेगा तो उसकी पूजा निरी पागलपन होगी। सेवा करने में भी खूबी है, रहस्य है। अपने गाव मे रहकर भी मैं विश्वेश्वर की सेवा कर सकता हू। दूसरो को न लूटते हुए जो सेवा की जाती है, वह अनमोल हो सकती है, होती भी है।

तुकाराम ने अपना देहू नामक गाव नही छोडा। रामदास दस गावो मे विचरे और सेवा करते रहे। फिर भी दोनो की सेवा का फल एक है, अनत है। यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्म से भी अपार मूल्य मिलता है। सुदामा मुट्ठीभर ही तदुल लेकर गये थे। लेकिन उन तदुलो में प्रचड शक्ति थी। सुदामा की बुद्धि व्यापक थी। बहुत बडा कर्म करने पर भी कुछ अभागो को बहुत थोडा फल मिलता है। लेकिन सुदामा छोटे-से कर्म से बहुत बडा फल प्राप्त कर सके। जिसकी बुद्धि शुद्ध, निष्पाप और पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्तिमय और प्रेममय है, वह छोटी-सी भी क्रिया करे तो भी उसका फल महान् होता है। मूल्य बहुत बडा होता है। यह एक महान् आध्यात्मिक

सिद्धांत है। मा का पत्र दो ही शब्दों का क्यों न हो, विलक्षण प्रभाव डालता है। वह प्रेम की स्याही से पवित्रता के स्वच्छ कागज पर लिखा होता है। दूसरा कोई पोथा कितने ही सफेद कागज पर क्यों न लिखा हुआ हो, यदि उसके मूल मे शुद्ध बुद्धि न हो, निर्मल बुद्धि न हो, जो कुछ लिखा गया है, वह प्रेम में ढला हुआ न हो, तो सारा पोथा बेकार है।

परमात्मा के यहा 'कितनी सेवा' यह पूछ नही है। 'कैसी सेवा' यह पूछ है। तिलक अत्यन्त बुद्धिमान, विद्वान, नाना शास्त्रों के पंडित थे, इसलिए उनकी सेवा अनेकागी और बहुत बडी है। परन्तु तिलक ने जितनी कीमती सेवा की, उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती सेवक भी कर सकता है। तिलक की सेवा विपुल और बहु-अंगी थी, तो भी उसका मूल्य और एक स्वच्छ सेवक की सेवा का मूल्य बराबर हो सकता है। एक गाडीभर ज्वार रास्ते से जा रही हो, लेकिन उसकी कीमत मै अपनी छोटी-सी जेब में रख सकता हू। दस हजार का नोट अपनी जेब मे रख सकता हू। उसपर सरकारी मुहर भर लगी हो। आपकी सेवा पर व्यापकता की मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे, पर व्यापक दृष्टि और वृत्ति से न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टि से की हुई छोटी-सी सेवा की अपेक्षा कम ही मानी जायगी। व्यापक वृत्ति से की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सबकोई सेवा कर सकें, इसीलिए परमात्मा की यह योजना है। चाहे जहा चाहे जो कुछ भी कीजिए, पर सकुचित दृष्टि से न कीजिए। उसमें व्यापकता भर दीजिए। यह व्यापकता आज के कार्यकर्ताओं मे कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्त्ता आज सकुचित दृष्टि से काम करते हुए दीख पडते हैं।

तिलक की दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्य में मिठास और आनद है। हिंदुस्तान में ही नहीं, बल्कि ससार के किसी भी समाज के वास्तविक हित का विरोध न करते हुए चाहे जहा सेवा कीजिए। चाहे वह एक गाव की ही सेवा क्यो न हो, वह अनमोल है। परतु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइए। फिर देखिए, आपके कर्मों में कैसी स्फूर्ति का सचार होता है। कैसी बिजली का सचार होता है। तिलक में यही व्यापकता थी।

मैं भारतीय हूँ, यह शुरू से ही उनकी वृत्ति रही। बगाल में आन्दोलन शुरू हुआ। उन्होंने दौडकर उसकी मदद की। बगाल का साथ देने के लिए महाराष्ट्र को खडा किया। स्वदेशी का डका बजवाया। "जब बगाल लडाई के मैदान मे खडा है तो हमें भी जाना ही चाहिए। जो बगाल का दु ख हैं, वह महाराष्ट्र का भी दु ख है।" ऐसी व्यापकता, सार्वराष्ट्रीयता तिलक में थी। इसीलिए पूना के निवासी होकर भी वह हिंदुस्तान के प्राण बन गये। सारे देश के प्रिय बने। तिलक सारे भारतवर्ष के लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सार्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था। वह था जनता की विशेषता। जनता का यह गुण कार्यकर्त्ताओं में भी है, क्योंकि वे भी तो जनता के ही हैं। लेकिन उनको खुद इस बात का पता नहीं है। तिलक के गुण के साथ जनता के गुण का स्मरण भी करना चाहिए, क्योंकि तिलक अपने-आपको जनता के चरणो की धूल समझते थे। जनता के दोष, जनता की दुर्बलता, त्रुटियां, सबकुछ वह अपनी ही समझते थे। वह जनता से एकरूप होगये थ, इसलिए जनता के गुणो का स्मरण तिलक के गुणो का स्मरण ही है।

यह जो जनता का गुण है, वह हमारा कमाया हुआ नहीं है। हमारे महान्, पुण्यवान् विशाल दृष्टिवाले पूर्वजो की यह देन है। यह गुण मानो हमने अपनी मा के दूध के साथ ही पिया है। उन श्रेष्ठ पूर्वजो ने हमें यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रात का, किस जाति का है, यह देखने के बदले इतना ही देखो कि वह भला है या नहीं, वह भारतीय है या नहीं। उन्होंने हमें यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते हैं कि अग्रेजो ने यहा आकर हमें देशाभिमान सिखलाया। तब कहीं हम राष्ट्रीयता से परिचित हुए। पर यह गलत है। एकराष्ट्रीयता की भावना अगर हमें किसीने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान पूर्वजो ने। उन्हीकी कृपा से यह अनूठी देन हमें प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रपि ने हमें यह सिखावन दी है कि 'दुर्लभ भारते जन्म'। 'दुर्लभं बगेषु जन्म,' 'दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म' ऐसा उन्होने नही कहा। ऋषि ने तो यही कहा कि 'दुर्लभ भारते जन्म' काशी में गगा तट पर रहनेवाले को किस बात की तडप होती है? वह इसके लिए तडपता है कि काशी की गगा की बहगी या कावर भरकर कब रामेश्वर को चढाऊ? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकान का आगन और पिछवाडा हो। वास्तव मे तो काशी और रामेश्वर में पद्रह सौ मील का फासला है, परतु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियो ने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आगन पद्रह सौ मील का है। रामेश्वर में रहनेवाला इसलिए तडपता है कि रामेश्वर के समुद्र का जल काशी विश्वेश्वर के मस्तक पर चढाऊ। वह रामेश्वर का समुद्र-जल काशी तक ले जायेगा। कावेरी और गोदावरी के जल में नहानेवाला भी 'जय गगे' 'हर गगे' ही कहेगा। गगा सिर्फ काशी में ही नहीं, महापर भी है। जिस बर्तन मे हम नहाने के लिए पानी लेते हैं, उसे भी गगाजल (गगालय) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह। यह भारतीय भावना है।

यह भावना आध्यात्मिक नही, किंतु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभ भारते जन्म' नही कहेगा। वह और ही कहेगा। जैसा कि तुकाराम ने कहा, 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रया मध्यें वास॥' (स्वदेशो भुवनत्रयम्) उन्होने आत्मा की मर्यादा को व्यापक बना दिया। सारे दरवाजो, सारे किलो को तोडकर आत्मा को प्राप्त किया। तुकाराम के समान महापुरुषो ने, जो आध्यात्मिक रग मे रगे हुए थे, अपनी आत्मा को स्वतत्र सचार करने दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस भावना से प्रेरित होकर, सारे भेद-भावो को पार कर जो सर्वत्र चिन्मयता के दर्शन कर सकें, वे धन्य है। लोग भी समझ गये कि ये सारे विश्व के है, इनकी कोई सीमा नही है। परन्तु 'दुर्लभ भारते जन्म' की जो कल्पना ऋषियो ने की, वह आध्यात्मिक नही, राष्ट्रीय है।

वाल्मीकि ने अपनी रामायण के प्रारम्भिक श्लोको मे राम के गुणो का वर्णन किया है। राम का गुणगान करते हुए राम कैसे थे, इसका वे यो वर्णन करते

है कि 'समुद्रइव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव'—"स्थिरता ऊपरवाले हिमालय-जैसी और गाम्भीर्य पैरो के निकटवाले समुद्र-जैसा।" देखिए, कैसी विशाल उपमा है। एक सास मे हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के दर्शन कराए। पाच मील ऊचा पर्वत और पाच मील गहरा सागर एकदम दिखाये। तभी तो यह रामायण राष्ट्रीय हुई। वाल्मीकि के रोम रोम मे राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था, इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। उनकी रामायण सस्कृत में है तो भी सबकी आदरणीय है। वह जितनी महाराष्ट्र मे प्रिय है, उतनी ही मद्रास की तरफ केरल मे भी है। श्लोक के एक ही चरण में उत्तर भारत और दक्षिण का समावेश कर दिया। विशाल और भव्य उपमा है।

हमसे कोई पूछे कि तुम कितने हो, तो हम तुरत बोल उठेगे कि हम पैंतीस करोड बहन भाई है। अग्रेज से पूछो तो वह चार करोड बतलायगा। फरासीसी सात करोड बतलायगा। जर्मन छ करोड बतलायगा। बेल्जियम साठ लाख बतलायगा। यूनानी आध करोड बतलायगा। और हम पैं—ती—स करोड! ऐसा फर्क क्यो हुआ? हमने इन पैंतीस करोड को एक माना। उन्होने नही माना। सच पूछो तो जर्मनी की भाषा और फरासीसियों की भाषा अधिक विसदृश नही है जैसी मराठी और गुजराती। यूरोप की भाषाए लगभग एक-सी हैं। उनका धर्म भी समान है। भिन्न भिन्न राष्ट्रो मे परस्पर रोटी-बेटी का व्यवहार भी होता है। लेकिन फिर भी उन्होने यूरोप के अलग-अलग टुकडे कर डाले! हिंदुस्तान के प्रातो ने अपनेको अलग-अलग नही माना। यूरोप के लोगो ने ऐसा मान लिया। हिंदुस्तान भी तो रूस को छोड बाकी के सारे यूरोप के बराबर एक खड (महाद्वीप) ही है। लेकिन हमने भारत को एक खड, यानी अनेक देशो का समुदाय न मानकर भारतवर्ष के नाम से सारा एक ही देश माना, एक राष्ट्र माना।

उन अभागे यूरोपवासियो ने सारा यूरोप एक नही माना। उन्होने यूरोप को एक खड (महाद्वीप) माना। उसके छोटे-छोटे टुकडे किये। एक-एक टुकडे को अपना मान लिया और एक-दूसरे से घनघोर युद्ध किये। पिछले महासमर को ही ले लीजिए। लाखो लोग मरे। वे एक-दूसरे से लडे, मगर

भी सारे प्रातो में प्रतिष्ठा है। पजाब, महाराष्ट्र, कर्नाटक उनका आदर करते हैं। हमें उसका पता भले ही न हो, लेकिन एकराष्ट्रीयता का यह महान् गुण हमारे खून में ही घुल-मिल गया है। हमारे यहा एक प्रात का नेता, दूसरे प्रात मे जाता है, लोगो के सामने अपने विचार रखता है। क्या यूरोप में यह कभी हो सकता है ? जरा जाने दीजिए मुसोलिनी को रूस में फासिज्म पर व्याख्यान देने। लोग उसे पत्थर मार-मारकर कुचल डालेगे या फासी पर लटका देगे। हिटलर और मुसोलिनी जब मिलते हैं तो कैसा जबरदस्त बदोबस्त किया जाता है, कैसी चुपचाप गुप्त रूप से मुलाकात होती हैं। मानो दो खूनी आदमी किसी साजिश के लिए एक-दूसरे से मिल रहे हैं! किले, परकोटे, दीवारें सब तरफ खडी करके सारे यूरोप में द्वेष और मत्सर फैला दिया है इन लोगो ने। पर हिंदुस्तान में ऐसी बात नही है। तिलक-गाधी को छोड दीजिए। ये लोकोत्तर पुरुष हैं। किंतु दूसरे साधारण लोगो का भी सर्वत्र आदर होता है। लोग उनकी बातें ध्यान से सुनते हैं। ऐसी राष्ट्रीय भावना ऋषियो ने हमें सिखाई है। समाज और जनता में सर्वत्र इसका असर मौजूद है। अज्ञात रूप से वह हमारी नस-नस मे विद्यमान है।

हमें इस गुण का पता नही था। आइए, अब ज्ञानपूर्वक हम उससे परिचय कर लें। आज तिलक का स्मरण सर्वत्र किया जायगा। उनके ब्राह्मण होते हुए भी, महाराष्ट्रीय होते हुए भी, सब जनता सर्वत्र उनकी पूजा करेगी, क्योकि तिलक की दृष्टि व्यापक थी। वह सारे भारतवर्ष का विचार करते थे। वह सारे हिंदुस्तान से एकरूप होगये थे। यह तिलक की विशेषता है। भारत की जनता भी प्रांताभिमान आदि का खयाल न करती हुई गुणो को पहचानती है। यह भारतीय जनता का गुण है। इन दोनो के गुणो का यह चमत्कार है कि तिलक का सर्वत्र सब लोग स्मरण कर रहे हैं। जैसे एक ही आम की गुठली से पेड, शाखा और आम पैदा होते है, उसी प्रकार एक ही भारतमाता के बाह्यत जुदा-जुदा पुत्र दिखाई देते हैं—कोई क्रोधी, कोई स्नेही। फिर भी मीठे और मुलायम आम जिस गुठली से पैदा होते है, उसीसे पेड का कठिन धड भी पैदा होता है। इसी तरह से हम ऊपर से कितने ही भिन्न क्यों न दिखाई दें

तो भी हम एक ही भारतमाता की संतान हैं, यह कदापि न भूलना चाहिए। इसे ध्यान में रखकर प्रेम-भाव बढ़ाते हुए सेवकों को सेवा के लिए तैयार होना चाहिए। तिलक ने ऐसी ही सेवा की। आशा है, आप भी करेंगे।

: ३८ :

निर्भयता के प्रकार

निर्भयता तीन प्रकार की होती है—विज्ञ निर्भयता, ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, विवेकी निर्भयता। 'विज्ञ निर्भयता वह निर्भयता है जो खतरों से परिचय प्राप्त करके उनके इलाज जान लेने से आती है। यह जितनी प्राप्त हो सकती हो, उतनी कर लेनी चाहिए। जिसकी सांपों से जान-पहचान हो गई, निर्विष और सविष सांपों का भेद जिसने जान लिया, सांप पकड़ने की कला जिसे सिद्ध होगई, सांप काटने पर किये जानेवाले इलाज जिसे मालूम होगये, सांप से बचने की युक्ति जिसे विदित होगई, वह सांपों की तरफ से काफी निर्भय हो जायगा। अवश्य ही यह निर्भयता सांपों तक ही सीमित रहेगी। हरएक को शायद वह प्राप्त न हो सके, लेकिन जिसे सांपों में रहना पड़ता है, उसके लिए यह निर्भयता व्यावहारिक उपयोग की चीज है। क्योंकि उसकी बदौलत जो हिम्मत आती है वह मनुष्य को अस्वाभाविक आचरण से बचाती है। लेकिन यह निर्भयता मर्यादित है।

दूसरी यानी ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, मनुष्य को पूर्ण निर्भय बनाती है। परन्तु दीर्घ प्रयत्न, पुरुषार्थ, भक्ति इत्यादि साधनों के सतत अनुष्ठान के बिना वह प्राप्त नहीं होती। जब वह प्राप्त होगी तो किसी अवांतर सहायता की जरूरत ही न रहेगी।

इसके बाद तीसरी विवेकी निर्भयता है। वह मनुष्य को अनावश्यक और ऊटपटांग साहस नहीं करने देती। और फिर भी अगर खतरे का सामना करना ही पड़े तो विवेक से बुद्धि शांत रखना सिखाती है। साधक को चाहिए

कि वह इस विवेकी निर्भयता की आदत डालने का प्रयत्न करे। वह हरएक की पहुच में है।

मान लीजिए कि मेरा शेर से सामना हो गया और वह मुझपर झपटना ही चाहता है। सभव है कि मेरी मृत्यु अभी बदी हो न हो। अगर बदी हो तो वह टल नही सकती। परतु यदि मैं भयभीत न होकर अपनी बुद्धि शात रखने का प्रयत्न करू तो बचने का कोई रास्ता सूझने की सभावना है। या ऐसा कोई उपाय न सूझे तो भी अगर मैं अपना होश बनाये रख् तो अतिम समय में हरि-स्मरण कर सकूगा। ऐसा हुआ तो यह परम लाभ होगा। इस प्रकार यह विवेकी निभयता दोनो तरह से लाभदायी है। और इसीलिए यह सबके प्रयत्नो का विषय होने योग्य है।

अक्तूबर, १९४०

: ३९ :

आत्मशक्ति का अनुभव

आप सब जानते है कि आज गाधीजी का जन्म-दिन है। ईश्वर की कृपा से हमारे इस हिंदुस्तान मे गाधीजी-जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति इससे पहले भी हुए है। ईश्वर हमारे यहा समय-समय पर ऐसे अच्छे व्यक्ति भेजता आया है। आइए, हम ईश्वर से प्रार्थना करे कि हमारे देश में सत्पुरुषो की ऐसी ही अखड परपरा चलती रहे।

मैं आज गाधीजी के विषय मे कुछ न कहूगा। अपने नाम से कोई उत्सव हो, यह उन्हें पसद नही है। इसलिए उन्होंने इस सप्ताह को खादी-सप्ताह नाम दिया है। अपनेसे सबध रखनेवाले उत्सव को कोई प्रोत्साहन नही दे सकता, परंतु गाधीजी इस उत्सव को प्रोत्साहन दे सकते है, कारण, यह उत्सव एक सिद्धात के प्रसार के लिए, एक विचार के विस्तार के लिए मनाया जाता है।

और उन्हें कार्यान्वित कीजिए, तब आत्मशक्ति का अनुभव होने लगेगा।

दूसरी बात यह है कि गाव में जो काम हुआ है, उसके विवरण से यह पता चलता है कि वे ही लोग काम करते हैं जिन्हें इस काम मे शुरू से दिलचस्पी रही। हमें इसकी जाच करनी चाहिए कि दूसरे लोग इसमें क्यो नही शामिल होते। कातनेवाले कातते हैं, इतना ही काफी नही है। इसका भी विचार करना चाहिए कि न कातनेवाले क्यो नही कातते। हमने अपना फर्ज अदा कर दिया, इतना काफी है, ऐसा कहने से काम नही चलेगा। इसका भी चितन करना चाहिए कि यह चीज गावभर में कैसे फैलेगी? इसमे असली दिक्कत यह है कि हम शायद ही कभी ऐसा मानकर व्यवहार करते हो कि सारा गाव एक है। जब आग लग जाती है, बाढ आती या कोई छूत की बीमारी फैलने लगती है, तभी हम सारे गाव का विचार करते है। लेकिन यह तो अपवाद हुआ। हमारे नित्य के व्यवहार में यह बात नही पाई जाती। जब किसीका स्पर्श ज्ञान बिल्कुल नष्ट होनेवाला होता है, तो उसे मामूली स्पर्श मालूम ही नही पडता। जोर से चुटकी काटिए तो थोडा-सा पता चलता है। यही हाल हमारा है। हमारा आत्मज्ञान बिल्कुल मरणोन्मुख हो गया है।

पशुओ का आत्मज्ञान उनकी देह तक सीमित रहता है। वे अपनी सतान को भी नही पहचानते। अलबत्ता मादा को कुछ दिनो तक यह ज्ञान होता है, क्योकि उसे दूध पिलाना पडता है। लेकिन यह पहचान भी तभी तक होती है जबतक कि वह दूध पिलाती रहती है। उसके बाद अक्सर वह भी भूल जाती है। नर को तो उतनी भी पहचान नही होती। कुछ जानवरो मे तो बाप अपने बच्चो को खा जाता है। मनुष्य अपने बाल-बच्चो को पहचानता है, इसलिए वह पशु से श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है, कौन-सा प्राणी कितना श्रेष्ठ है, इसका निश्चय उसके आकार से नही होता। उसकी आत्मरक्षा की शक्ति या युक्ति से भी इसका पता नही चलता। उसका आत्मज्ञान कितना व्यापक है, इसीसे उसके बडप्पन का हिसाब लगाया जा सकता है। दूसरे प्राणियो का आत्मज्ञान

उनके शरीर तक ही रहता है। जगली मानी गई जाति में मनुष्य भी वह कम-से-कम उनके परिवार तक व्यापक होता है। जितनी कमाई होती है, वह सारे घर की मानी जाती है। कुछ कुटुम्बो में तो यह कौटुम्बिक प्रेम भी नही होता। भाई-भाई, पति-पत्नी और बाप-बेटो में झगडे-टटे होते रहते हैं।

हिंदुस्तान में फिर भी कौटुम्बिक प्रेम थोडा-बहुत पाया जाता है। लेकिन कुटुम्ब से बाहर वह बहुत कम मात्रा में है। जब कोई भारी आपत्ति आ पडती है तो उतने समय के लिए सारा गाव एक हो जाता है। आम तौर पर कुटुम्ब से बाहर देखने की वृत्ति नही है। इसका यह मतलब हुआ कि हिंदुस्तान का आत्म-ज्ञान मौत की तरफ बढ रहा है, इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि समूचे गावो को एक इकाई मानकर सारे गावो की चिंता कीजिए। यह गोपालकृष्ण का मदिर कौन-सा सदेश सुनाता है? इस मदिर का मालिक गोपालकृष्ण है। उसके पास उसके सब बालको को जाने की इजाजत होनी चाहिए। यह मदिर हरिजनो के लिए खोलकर आपने इतना काम किया है। किंतु मदिर खोलने का पूरा अर्थ समझकर, इस गोपालकृष्ण की छत्रच्छाया में यह सारा गाव एक है', ऐसी भावना का विकास कीजिये।

गावो की प्राथमिक आवश्यकताओ की चीजें गाव में ही बननी चाहिए। अगर हम ऐसी चीजें बाहर से लाने लगेंगे तो बाहर के लोगो पर जुल्म होगा। जापान की मिलो और कारखानो में मजदूरो को बारह-बारह घटे काम करना पडता है। कम-से-कम मजदूरी में उनसे ज्यादा-से-ज्यादा काम लिया जाता है। वे यह सब किसलिए करते हैं? हिंदुस्तान के बाजार अपने हाथ में रखने के लिए। मगर उनकी भाषा में "हमारी आवश्यकताए पूरी करने के लिए।" यह वहा के मालदार पूजीपति कहते हैं। वहा के गरीबो का इसमें कोई फायदा नही। वहा के मालदार आदमियो का भी कल्याण इसमें नहीं है और हमारा तो हरगिज नही है। हमारे उनका माल खरीदने से उन्हे जो पैसा मिलता है, उसका वे कैसा उपयोग करते है? उस पैसे से वे बम बनाते हैं। उनकी बदौलत वे आज चीन को हरा रहे हैं। इग्लैण्ड, जर्मनी आदि राष्ट्रो का भी यही कार्यक्रम है। बाहर का माल खरीदकर हम इस प्रकार दुर्जनो का लोभ बढाते

हैं, शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद बनाने के लिए पैसा देते है। इसका उपयोग राष्ट्र-के-राष्ट्र वीरान कर देने के लिए ही हो रहा है।

बीस-बीस हजार फुट की ऊंचाई से बम गिराये जाते है। जर्मन लोग बडे गर्व से कहते है कि "हमने लदन को बेचिराग कर दिया।" अग्रेज कहते है, "हमने वर्लिन को भून डाला।" और हम लोग समाचार-पत्रो में ये सब खबरें पढ-पढकर मजे लेते हैं। औरते और बच्चे मर रहे है, मदिर, विद्यालय, और दवाखाने जमीदोज हो रहे हैं। लडनेवालो और न लडनेवालो में कोई फर्क नही किया जाता। क्या इन लडनेवालो को हम पापी कहे? लेकिन हम पुण्यवान् कैसे साबित हो सकते हैं? हम ही तो उनका माल खरीदते ह।

इस प्रकार हम दुर्जनो को उनके दुष्ट कार्य मे सक्रिय सहायता देते हैं। यह कहना व्यर्थ है कि हम तो सिर्फ अपनी जरूरत की चीजें खरीदते हैं, हम किसीकी मदद नही करते। खरीदना और बेचना केवल मामूली व्यवहार नही है। उनमें परस्पर दान है। हम जो खरीदार है और वे जो बेचनेवाले हैं, दोना एक-दूसरे की मदद करते है। हम परस्पर के सहयोगी है। एक-दूसरे के पाप-पुण्य मे हमारा हिस्सा है। अमेरिका नकद सोना लेकर इग्लैण्ड को सोना बेचता है तो भी यह माना जाता है कि वह इग्लैण्ड की मदद करता है और अग्रेज इस सहायता के लिए उसका उपकार मानते है। व्यापार-व्यवहार में भी पाप-पुण्य का बडा भारी सवाल है। बैकवाला हमे व्याज देता है, लेकिन हमारे पैसे किसी व्यापार मे लगाता है। बैक मे पैसे रखनेवाला उसके पाप-पुण्य का हिस्सेदार होता है। जिसका उपयोग पाप के लिए होता हो, ऐसी कोई भी मदद करना पाप ही है। इसलिए अपने गाव की प्राथमिक आवश्यकता की चीजें बनाने का काम भी दूसरो को सौपने का मतलब यह है कि हम खुद परावलबन और आलस्य का पाप करते हैं और दूसरो को भी पाप में डालने मे सहायता करते हैं।

हिंदुस्तान और चीन दोनो बहुत बडे देश हैं। उनकी जनसख्या पचासी करोड, यानी ससार की जनसख्या के आधे से कुछ ही कम है। इतने बडे देश है, लेकिन सिवा नाज के इनमें और क्या उत्पन्न होता है? ये दो विराट

लोक-संख्यावाले देश गैर-मुल्कों के माल के खरीदार हैं। चीन में तो फिर भी कुछ माल तैयार होता है, पर हिंदुस्तान में वह भी नहीं होता। हिंदुस्तान सर्वथा परावलम्बी है। हम समझते हैं कि हम तो अपनी जरूरत की चीजें खरीदते हैं, हमसे मिले हुए पैसे का उपयोग जो लोग पाप में करते होंगे, वे पापी हैं, हम कैसे पापी हुए? बौद्ध-धर्मावलम्बी स्वयं जानवरों को मारना हिंसा समझते हैं, लेकिन कसाई के मारे हुए जानवर का मांस खाने में वे हिंसा नहीं मानते। उसी प्रकार का विचार यह भी है। हमें ऐसे भ्रम में नहीं रहना चाहिए। गांधीजी जब यह कहते हैं कि खादी और ग्रामोद्योग द्वारा प्रत्येक गांव को स्वावलम्बी बनना चाहिए, तब वे हरएक गांव को सुखी बनाना चाहते हैं और साथ-साथ दुर्जनों से लोगों पर जुल्म करने की शक्ति भी छीन लेना चाहते हैं। इस उपाय से दुर्जन और उन्हें शक्ति देनेवाले आलसी लोग दोनों पुण्य के रास्ते पर आयंगे।

हम अपने पैरों पर खड़े रहने में किसीसे द्वेष नहीं करते। अपना भला करते हैं। अगर हम लंकाशायर, जापान या हिंदुस्तान की मिलों का कपड़ा न खरीदें तो मिलवाले भूखों न मरेंगे? उनका पेट तो पहले ही से भरा हुआ है। बुद्धिमान होने के कारण वे दूसरे कई धंधे भी कर सकते हैं। लेकिन हम किसान ग्रामोद्योग खो बैठने के कारण, उत्तरोत्तर कंगाल हो रहे हैं। इसके अलावा बाहर का माल खरीदकर हमने दुर्जनों का बल बढ़ाया है। दुर्जन संघटित होकर आज दुनिया पर राज कर रहे हैं। इसके लिए हम सब तरह से जिम्मेदार हैं।

वास्तव में ईश्वर ने दुर्जनों की कोई अलग जाति नहीं पैदा की है। जब द्रव्य-संग्रह की धुन सवार हो जाती है, तब जन्मसिद्ध सज्जन भी धीरे-धीरे दुर्जन बनने लगता है। अगर हम स्वावलम्बी होगये, हमारे गांव अपने उद्योग के बल अपने पैरों पर खड़े हो सके, तो सज्जन को दुर्जन बनानेवाली लोभ-वृत्ति की जड़ें ही उखड़ जायेंगी और आज जो सत्ताधारी बनकर बैठे हैं, उनकी लोगों पर जुल्म करने की शक्ति निन्यानबे फीसदी गायब हो जायगी। "लेकिन जुल्म करने की जो एक प्रतिशत शक्ति शेष रह जायगी, उसका क्या

इलाज है ?" निन्यानबे प्रतिशत नष्ट हो जाने के बाद बाकी रहा हुआ एक प्रतिशत अपने-आप मुरझा जायगा । लेकिन जैसे चिराग बुझने के वक्त ज्यादा भभकता है, उसी तरह अगर यह एक प्रतिशत जोर मारे तो हमें उसका प्रतिकार करना पडेगा ।

इसके लिए सत्याग्रह के शस्त्र का आविष्कार हुआ है । दुर्जनो से हमें द्वेष नही करना है, पर दुर्जनता का प्रतिकार अपनी पूरी ताक्त से करना है। आज तक दुर्जनो की सत्ता जो ससार मे चलती रही,इसका सबब यह है कि लोग दुर्जनों के साथ व्यवहार करने के दो ही तरीके जानते थे। 'लोग' शब्द से मेरा मतलब है, 'सज्जन कहे जानेवाले लोग' । या वे 'झगडे का मुह काला' कहकर निष्क्रिय होकर बैठ जाना जानते थे, या फिर दुर्जनो मे दुर्जन होकर लड़ते थे। जब मै दुर्जन से उसीका शस्त्र लेकर लडने लगता हू, तो उसमें और मुझमें जो भेद है उसे बताने का इसके सिवा दूसरा तरीका ही नही है कि मै अपने माथे पर 'सज्जन' शब्द लिखकर एक लेबिल चिपका लू, और जब मै उसका शस्त्र बरतता हू तो अपने शस्त्र के प्रयोग में वही अधिक प्रवीण होगा, अर्थात् मेरी किस्मत मे पराजय तो लिखी ही है। या फिर मुझे सवाया दुर्जन बनकर उसको मात करना चाहिए। जो थोडे-बहुत सज्जन थे. वे इस 'दुष्ट चक्र' मे डरकर निष्क्रिय होकर चुपचाप बैठ जाते थे । इन दोनो पगडडियो को छोडकर हमें सत्याग्रह मे यानी स्वय कष्ट सहकर, अन्याय का प्रतिकार करना चाहिए और अन्याय करनेवाले के प्रति प्रेम-भाव रखना चाहिए, ऐसा यह अभग शस्त्र हमें प्राप्त हुआ है । इसी शस्त्र का वर्णन करते हुए ज्ञानदेव ने कहा है, "अगर मित्रता से ही वैरी मरता हो तो नाहक कटार क्यो बाधे ?' गीता कहती है 'आत्मा अमर है मारनेवाला बहुत करेगा तो हमारे शरीर को मारेगा हमारी आत्मा को, हमारे विचार को वह नही मार सकता।" यह गीता की सिखावन ध्यान में रखते हुए सज्जनो को निर्भयता और निर्वैर-बुद्धि से प्रतिकार के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

दुर्जनो की निन्यानबे प्रतिशत शक्ति नष्ट करने का काम खादी और ग्रामोद्योग का है। निन्यानबे प्रतिशत जनता के लिए यही कार्यक्रम है। शेष एक

प्रतिघात काम अहिंसक प्रतिकार का है। यदि पहला सुचारु रूप से हो जाय तो दूसरे की जरूरत ही न पड़नी चाहिए। और अगर जरूरत पड़े ही तो उसके लिए जनसंख्या के एक प्रतिशत की भी आवश्यकता न होनी चाहिए। थोड़े-से निर्भय, निर्वैर और आत्मज्ञ पुरुषों द्वारा यह काम हो सकता है। मैं समझता हू कि इन बातों में गांधी-जयन्ती का सारा सार आ जाता है।

२-१०-४०

: ४० :

सेवा का आचार-धर्म

सहनाववतु। सहनौ भुनक्तु।
सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै। ॐ शांति शांति शांति ॥

मैंने आज अपने भाषण का आरम्भ जिस मंत्र से किया है, वह मंत्र हमारे देश के लोग पाठशाला में अध्ययन शुरू करते समय पढ़ा करते थे। मंत्र गुरु और शिष्य के मिलकर कहने के लिए है। "परमात्मा हम दोनों का एक साथ रक्षण करे। एक साथ पालन करे, हम दोनों जो कुछ सीखें, वह हम दोनों की शिक्षा, तेजस्वी हो। हम दोनों में द्वेष न रहे और सर्वत्र शांति रहे।" यह इस मंत्र का संक्षिप्त अर्थ है। आश्रम में भोजन के प्रारम्भ में यही मंत्र पढ़ा जाता है। अन्यत्र भी भोजन आरम्भ करते समय इसे पढ़ने की प्रथा है। इस मंत्र का भोजन से क्या सम्बन्ध है? इसके बदले कोई दूसरा भोजन के समय पढ़ने-योग्य मंत्र क्या खोजा ही नहीं जा सकता? " यह सवाल एक बार बापू से किया गया था। उन्होंने वह मेरे पास भेज दिया था। मैंने एक पत्र में उसका विस्तार से उत्तर दिया है। वही मैं थोड़े में यहां कहनेवाला हूं।

इस मंत्र में समाज दो भागों में बांटा गया है। और ऐसी प्रार्थना की गई है कि परमात्मा दोनों का एक साथ रक्षण करे। भोजन के समय इस मंत्र का उच्चार अवश्य करना चाहिए, क्योंकि हमारा भोजन केवल पेट भरने के

लिए ही नही है, ज्ञान और सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए है। इतना ही नही, इसमें यह भी माग की गई है कि हमारा वह ज्ञान, वह सामर्थ्य और वह भोजन भगवान् एक साथ कराये। इसमे केवल पालन की प्रार्थना नही है। एक साथ पालन की प्रार्थना है। पाठशाला मे जिस प्रकार गुरु और शिष्य होते हैं, उसी प्रकार सर्वत्र द्वैत है। परिवार मे पुरानी और नई पीढी, समाज मे स्त्री-पुरुष, वृद्ध-तरुण, शिक्षित-अशिक्षित आदि भेद हैं। उसमें फिर गरीब-अमीर का भेद भी है। इस प्रकार सर्वत्र भेद-दृष्टि आती है। हमारे इस हिंदुस्तान म तो असख्य भेद हैं। यहा प्रात-भेद है। यहा का स्त्री-वर्ग बिल्कुल अपग रहता है। इसलिए यहा स्त्री-पुरुषो मे भी बहुत भेद बढा है। हिंदू और मुसलमान का भेद तो प्रसिद्ध ही है। परतु हिंदू-हिंदू मे भी हरिजनो और दूसरो मे भी भेद है। हिंदुस्तान की तरह भेद ससार मे भी है। इसलिए इस मत्र में यह प्रार्थना की गई है कि "हमे एक साथ तार, एक साथ मार।" मारने की प्रार्थना प्राय कोई नही करता। इसलिए यहा एक साथ तारने की प्रार्थना है। लेकिन "यदि मुझे मारना ही हो तो कम-से-कम एक साथ मार।" ऐसी प्रार्थना है। साराश, "हमें दूध देना है तो एक साथ दे, सूखी रोटी देना है तो भी एक साथ दे, हमारे साथ जो कुछ करना है, वह सब एक साथ कर", ऐसी प्रार्थना इस मत्र में है।

देहात के लोग यानी किसान और शहराती, गरीब और अमीर, इनका अतर जितना कम होगा, उतना ही देश का कदम आगे बढेगा। अतर दो तरह से मेटा जा सकता है। ऊपरवालो के नीचे उतरने से और नीचेवाला के ऊपर चढने से। परतु दोनो ओर से यह नही होता। हम सेवक कहलाते हैं लेकिन किसान-मजदूरो की तुलना मे तो चोटी पर ही हैं।

लेकिन सवाल तो यह है कि भोग और ऐश्वर्य किसे कहें ? मै अच्छा स्वादिष्ट भोजन करू और पडोस मे ही दूसरा भूखो मरता रहे, इसे ? उसकी नजर बराबर मेरे भोजन पर पडती रहे और मै उसकी परवाह न करू ? उसके आक्रमण से अपनी थाली की रक्षा करने के लिए एक डडा लेकर बैठू ? मेरा स्वादिष्ट भोजन और डडा तथा उसकी भूख, इसे ऐश्वर्य मानें ? एक सज्जन

सुधारना भी चाहिए। लेकिन उनकी आवश्यक्ताए आज तो पूरी भी नही होतीं। उनका रहन-सहन बिल्कुल गिरा हुआ है। उनके जीवन का मान बढाना चाहिए। मोटे हिसाब से तो यही कहना पडेगा कि आज हमारे गरीब देहातियो की आवश्यक्ताए बढानी चाहिए।

यदि हम गावो में जाकर बैठे है तो हमें इसके लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासियो का रहन-सहन ऊपर उठे और हमारा नीचे उतरे। लेकिन हम जरा-जरा-सी बातें भी तो नही करते। महीना-डेढ महीना हुआ, मेरे पैर मे चोट लग गई। किसीने कहा, उसपर मरहम लगाओ। मरहम मेरे स्थान पर आ भी पहुचा। किसीने कहा, मोम लगाओ, उससे ज्यादा फायदा होगा। मैंने निश्चय किया कि मरहम और मोम दोनो आखिर मिट्टी के ही वर्ग के तो है। इसलिए मिट्टी लगा ली। अभी पैर बिल्कुल अच्छा नही हुआ है, लेकिन अब मजे में चल सकता हू। हमें मरहम जल्दी याद आता है, लेकिन मिट्टी लगाना नही सूझता। कारण, उसमें हमारी श्रद्धा नही, विश्वास नही।

हमारे सामने इतना बडा सूर्य खडा है। उसे अपना नगा शरीर दिखाने की हमें बुद्धि नही होती। सूर्य के सामने अपना शरीर खुला रखो, तुम्हारे सारे रोग भाग जायगे, लेकिन हम अपनी आदत और शिक्षा से लाचार हैं। डाक्टर जब कहेगा कि तुम्हे तपेदिक होगया, तब वही करेंगे।

हम अपनी जरूरतें किस तरह कम कर सकेंगे, इसकी खोज करनी चाहिए। मै यहा सन्यासी का धर्म नही बतला रहा हू। खासे सद्गृहस्थ का धर्म बतला रहा हू। ठडी आब-हवावाले देशो के डाक्टर कहते है कि बच्चो की हड्डिया बढाने के लिए उन्हें 'कॉड लिवर आयल' दो। जहा सूर्य नही है, ऐसे देशो में दूसरा उपाय ही नही है। कॉड लिवर के बिना बच्चे मोटे-ताजे नहीं होगे। यहा सूर्य-दर्शन की कमी नही। यहा यह 'महा कॉड लिवर आयल' भरपूर है। लेकिन हम उसका उपयोग नही करते। यह हमारी दशा है। हमें लगोटी लगाने में शर्म आती है। छोटे बच्चो पर भी हम कपडे की बाइडिंग (जिल्द) चढ़ाते है। नगे बदन रहना असभ्यता का लक्षण माना जाता है। वेदो में प्रार्थना की गई है कि "भा न सूर्यस्य सदृशो युयोथाः।" हे ईश्वर, मुझे

सूर्य-दर्शन से दूर न रख।" वेद और विज्ञान दोनो कहते हैं कि खुले शरीर रहो। कपडे की जिल्द में कल्याण नही। हम अपने आचार से ये विनाशक चीजें गाव में दाखिल न करें। हम देहात में जाने पर भी अपने बच्चो को आधी या पूरी लबाई का पतलून पहनाते हैं। इसमें उन बच्चो का कल्याण तो है ही नही, उल्टे एक दूसरा अशुभ परिणाम यह निकलता है कि दूसरे बच्चो में और उनमें भेद पैदा हो जाता है। या फिर दूसरे लोगो को भी अपने बच्चो को सजाने का शौक पैदा हो जाता है। एक फिजूल की जरूरत पैदा हो जाती है। हमें देहातो में जाकर अपनी जरूरतें कम करनी चाहिए। यह विचार का एक पहलू हुआ।

देहात की आमदनी बढाना इस विचार का दूसरा पहलू है। लेकिन वह कैसे बढाई जाय ? हममें आलस्य बहुत है। वह महान् शत्रु है। एक का विशेषण दूसरो को जोड देना साहित्य में एक अलकार माना गया है। "कहे लडकी से, लगे बहू को" इस अर्थ की जो कहावत है, उसका भी अर्थ यही है। बहू को यदि कुछ जली-कटी सुनानी हो तो सास अपनी लडकी को सुनाती है। उसी तरह हम कहते है, "देहाती लोग आलसी होगए।" दरअसल आलसी तो हम हैं। यह विशेषण पहले हमें लागू होता है, हम इसका उनपर आरोप करते हैं। बेकारी के कारण उनके शरीर में आलस्य भले ही भिद गया हो, परतु उनके मन में आलस्य नही है। उन्हें बेकारी का शौक नही है। लेकिन यदि सच कहा जाय तो हम कार्यकर्त्ताओ के मन में भी आलस्य है, और शरीर में भी। आलस्य हिंदुस्तान का महारोग है। यह बीज है। बाहरी महारोग इसका फल है। हमें इस आलस्य को दूर करना चाहिए। सेवक को सारे दिन कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए, और कुछ न हो तो गाव की परिक्रमा ही करे। और कुछ न मिले तो हड्डिया ही बटोरे। यह भगवान शकर का कार्यक्रम है। हड्डिया इकट्ठी करके चर्मालय में भेज दे। इससे आशुतोष भगवान शकर प्रसन्न होंगे। या एक बाल्टी में मिट्टी लेकर रास्ते पर जहा-जहा खुला हुआ मैला पडा हो, उसपर डालता फिरे। अच्छी खाद बनेगी। इसके लिए कोई खास कौशल की जरूरत नहीं।

हमारे सेनापति बापट ने एक कविता मे कहा है कि 'झाड़ू, खपरैल और खुरपा, ये औजार धन्य है ।" ये कुशल औजार है । जिस औजार का उपयोग अकुशल मनुष्य भी कर सकता है, उसे बनानेवाला अधिक-से-अधिक कुशल होता है । जिस औजार के उपयोग के लिए कम-से-कम कुशलता की जरूरत हो, वह अधिक-से-अधिक कुशल औजार है । खपरैल और झाड़ू ऐसे ही औजार है । झाड़ू सिर्फ फिराने की देर है, भूमाता स्वच्छ हो जाती है । खपडियो में जरा भी आना-कानी किये बिना मैला आजाता है । यन्त्रशास्त्र के प्रयोग इस दृष्टि से होने चाहिए । खपरैल, खुरपा और झाड के लिए पैसे नही देने पडते । इसलिए वे सीधे-सादे औजार धन्य है ।

रामदास ने अपने 'दासबोध' में सुबह से शामतक की दिनचर्या बतलाते हुए कहा है कि सवेरे शौच-क्रिया के लिए बहुत दूर जाओ और वही से लौटते हुए कुछ-न-कुछ लेते आओ । वह कहते है कि खाली हाथ आना खोटा काम है । सिर्फ हाथ हिलाते नही आना चाहिए । कोई कोई कहते है कि हम तो हवा खाने गये थे । लेकिन हवा खाने का काम मे विरोध क्यो हो ? कुदाली मे खोदते हुए क्या नाक बद कर ली जाती है ? हवा खाना तो सदा चालू ही रहता है । परन्तु श्रीमान् लोग हमेशा बिना हवावाली जगह में बैठे रहते है । इसलिए उनके लिए हवा खाना भी एक काम हो जाता है । मगर कार्यकर्ता-को सदा खुली हवा में काम करने की आदत होनी चाहिए । वापस आते हुए वह अपने साथ कुछ-न-कुछ जरूर लाया करे । देहात में वह दतुअन ला सकता है । लीपने के लिए गोबर ला सकता है और अगर कुछ न मिले तो कम-से-कम किसी एक खेत के कपास के पेड ही गिनकर आ सकता है । यानी फसल का ज्ञान अपने साथ ला सकता है । मतलब, उसे फिजूल चक्कर नही काटने चाहिए । देहात में काम करनेवाले ग्राम-सेवको को सुबह से लेकर शामतक कुछ-न-कुछ करते ही रहना चाहिए ।

लोगो की शक्ति कैसे बढेगी, इसके विषय में अब कुछ कहूगा । देहात मे बेकारी और आलस्य बहुत है । देहात मे लोग मेरे पास आते और कहते है, "महाराज, हम लोगो का बुरा हाल है, घर में चार खानेवाले मुह है ।'

न जाने वे मुझे 'महाराज' क्यो कहते है। मेरे पास कौन-सा राज धरा है ? मै उनसे पूछता हू, "अरे भाई, घर मे अगर खानेवाले मुह न हो तो क्या बगैर खानेवाले हो ? बगैर खानेवाले मुह तो मुर्दो के होते है। उन्हे तो तुरत बाहर निकालना होता है । तुम्हारे घर में चार खानेवाले मुह हैं, यह तो तुम्हारा वैभव है। वे तुम्हें भार क्यो हो रहे है ? भगवान ने आदमी को अगर एक मुह दिया है तो उसके साथ-साथ दो हाथ भी तो दिये है। अगर वह एक समूचा मुह और आधा ही हाथ देता तो अलबत्ता मुश्किल था। तुम्हारे यहा चार मुह है तो आठ हाथ भी तो है । फिर भी शिकायत क्यो ?" लेकिन हम उन हाथो का उपयोग करें, तब न ? हमें तो हाथ-पर-हाथ धरकर बैठे रहने की आदत होगई है, हाथ जोडने की आदत होगई है। जब हाथ चलना बद हो जाता है, तो मुह चलना शुरू हो जाता है। फिर खानेवाले मुह आदमी को ही खाने लगते हैं।

हमें अपने दोनो हाथो से एक-सा काम करना चाहिए। पौनार में कुछ लडके कातने आते हैं । उनसे कहा, "बायें हाथ से कातना शुरू करो।" उन्होंने यहीसे कहना शुरू किया कि "हमारी मजदूरी कम हो जायगी, बाया हाथ दाहिने की बराबरी नही कर सकेगा।" मैंने कहा, "यह क्यो ? दाहिने हाथ में अगर पाच उगलिया हैं, तो बायें हाथ में भी तो हैं। फिर क्यो नही बराबरी कर सकेगा ?" निदान, मैंने उनमें से एक लडका चुन लिया और उससे कहा कि "बायें हाथ से कात।" उसे जितनी मजदूरी कम मिलेगी, उसे पूरी कर देने का जिम्मा मैंने लिया। चौदह रोज में वह साढ़े चार रुपया कमाता था। बायें हाथ से पहले पखवाडे में ही उसे करीब तीन रुपये मिले। दूसरे पाख में बाया हाथ दाहिने की बराबरी पर आगया। एक रुपया मैंने अपनी गिरह से पूरा किया। लेकिन उससे सबकी आखें खुल गईं। यह कितना बडा लाभ हुआ ? मैंने लडको से पूछा—"क्यो लडको, इसमें फायदा है कि नही ?" वे कहने लगे, "हा, क्यो नही ?" दाहिना हाथ भी तो आठ घटे लगातार काम करने में धीरे-धीरे थकने लगता है, अगर दोनों हाथ तैयार हो तो अदल-बदल कर सकते हैं और थकावट बिल्कुल नही आती। अठाईस-के-अठाईसो

लड़के बायें हाथ का प्रयोग करने के लिए तैयार होगये ।

शुरू-शुरू में हाथ में थोड़ा दर्द होने लगता है । लेकिन यह सात्त्विक दर्द है । सात्त्विक गुण ऐसा ही होता है । अमृत भी शुरू-शुरू में जरा कड़वा ही लगता है । पुराणो का यह एकदम मीठा-ही-मीठा अमृत वास्तविक नहीं । अमृत अगर, जैसा कि गीता में कहा है, सात्त्विक हो तो वह मीठा-ही-मीठा कैसे हो सकता है ? गीता में बताया हुआ सात्त्विक गुण तो प्रारम्भ में कड़ुवा ही होता है । मेरी बात मानकर लड़का ने तीन महीने तक सिर्फ बायें हाथ से कातने का प्रयोग करने का निश्चय किया । तीन महीने मानो दाहिने हाथ को बिल्कुल भूल हीगये । यह कोई छोटी तपस्या नही हुई ।

देहात में निंदा का दोष काफी दिखलाई देता है । यह बात नही कि शहर के लोग इससे बरी है । लेकिन यहा मैं देहात के विषय म ही कह रहा हू । निंदा सिर्फ पीठ पीछे जिंदा रहती है । उससे किसीका भी फायदा नही होता । जो निंदा करता है उसका मुह खराब होता है, और जिसकी निंदा की जाती है उसकी कोई उन्नति नही होती । मैं यह जानता तो था कि देहातिया में निंदा, करने की आदत होती है लेकिन यह रोग इतने उग्र रूप में फैल गया होगा इसका मुझे पता न था । इधर कुछ दिना से मैं सत्य और अहिंसा के बदले सत्य और अनिंदा कहने लगा हू । हमारे सतो की बुद्धि बडी सूक्ष्म थी । उनके वाङमय का रहस्य अब मेरी समझ में आया । वे देहातियो से भली-भाति परिचित थे, इसलिए उन्होंने जगह-जगह कहा है कि निंदा न करो, चुगली न खाओ । सतो के लिए मेरे मन म छुटपन से ही भक्ति है । उनके किये हुए भक्ति और ज्ञान के वणन मुझे बडे मीठे लगते हैं । लेकिन मैं सोचता था कि निंदा मत करो कहने में क्या बडी विशेषता है । उनकी नीति-विषयक कविताए मैं पढ़ता तो था लेकिन वे मुझे भाती न थी । परस्त्री को माता के समान समझो, पराया माल न छुओ और निंदा न करो—इतने में उनकी नैतिक शिक्षा की पूजी खत्म हो जाती थी । भक्ति और ज्ञान के साथ-साथ उसी श्रेणी में वे इन चीजों को भी रखते थे । यह मेरी समझ में न आता था । लेकिन अब खूब अच्छी तरह समझ गया हू । निंदा का दुर्गुण उन्होने लोगो की नस नस में

पैठा हुआ देखा, इसलिए उन्होंने अनिंदा पर बार-बार इतना जोर दिया और उसे बड़ा भारी सद्गुण बतलाया। कार्यकर्त्ताओं को यह शपथ ले लेनी चाहिए कि हम न तो निंदा करेंगे और न सुनेंगे। निंदा में अक्सर गलती और अत्युक्ति होती है। साहित्य मे अत्युक्ति भी एक अलकार माना गया है। ससार को चौपट कर दिया है इन साहित्यवालो ने। वस्तुस्थिति को तिगुना, दस गुना, बीस गुना बढाकर बताना, उनके मत से अलकार है। तो क्या जो चीज जैसी है, उसे वैसी ही बताना अपनी नाक कटाने के समान है? कथाकार और प्रवचनकार की अत्युक्ति का कोई ठिकाना ही नही। एक को सौगुना बढाने का नाम अतिशयोक्ति है, ऐसी उसकी कोई नाप होती तो अतिशयोक्ति की वस्तु-स्थिति की कल्पना कर सकते। लेकिन यहा तो कोई हिसाब ही नही है। वे एक का सौ गुना नही करते बल्कि शून्य को सौगुना बढाते हैं। सुनता हू सौ अनत का गुणा करने से कोई एक अक आता है, लेकिन यह तो गणितज्ञ ही जानें।

तीसरी बात जो मैं आप लोगो से कहना चाहता हू, वह है सच्चाई। हमारे कार्यकर्त्ताओ में स्थूल अर्थ में सच्चाई है, सूक्ष्म अर्थ में नही। अगर मैं किसीसे कहू कि तुम्हारे यहा सात बजे आऊगा तो वह पाच ही बजे से मुझे लेने के लिए मेरे यहा आकर बैठ जाता है, क्योंकि वह जानता है कि इस देश में जो कोई किसी खास वक्त आने का वादा करता है, वह उस वक्त आयगा ही इसका कोई नियम नही। इसलिए वह पहले से ही आकर बैठ जाता है। सोचता है कि दूसरे के भरोसे काम नही बनता। इसलिए हमें हमेशा बिल्कुल ठीक बोलना चाहिए। किसी गाववाले से आप कोई काम करने के लिए कहिए तो वह कहेगा, 'जी हा।' लेकिन उसके दिल में वह काम करना नही होता। हमें टालने के लिए 'जी हा' कह देता है। उसका मतलब इतना ही रहता है कि अब ज्यादा तग न कीजिए। 'जी हा' से उसका मतलब है कि यहा से तशरीफ ले जाइए। उसके 'जी हा' मे थोडा अहिंसा का भाव होता है, वह 'आगे बढिए' कहकर आपके दिल को चोट पहुचाना नही चाहता। आपको वह ज्यादा तकलीफ नही देना चाहता, इसलिए 'जी हा' कहकर जान बचा लेता है।

इसलिए कोई भी बात जो हम देहातियो से कराना चाहे, वह उन्हे समझा भर देनी चाहिए। उनसे शपथ या व्रत नही लिवाना चाहिए। जब से मैं देहात में गया तबसे किसीसे किसी बात के विषय में वचन लेने से मुझे चिढ़-सी होगई है। अगर मुझसे कोई कहे भी कि मैं यह बात करूगा तो मैं उससे यही कहूगा, कि "यह तुम्हे जचती है न ? बस, तो इतना काफी है। वचन देने की जरूरत नही। तुमसे हो सके तो करो।" लोगो को उसकी उपयोगिता समझाकर सतोष मान लेना चाहिए। क्योकि किसीसे कोई काम करने का वचन लेने के बाद उस काम को कराने की जिम्मेदारी हमपर आ जाती है। अगर वह अपना वचन पूरा न करे तो हम अप्रत्यक्ष रूप से झूठ बोलने मे सहायता करते है। राजकोट-प्रकरण और क्या चीज है ? अगर कोई हमारे सामने किसी विषय में वचन दे दे और फिर उसे पूरा न करे तो इसमें हमारा भी अध पतन होता है। इसलिए बापू को राजकोट में इतना सारा प्रयास करना पड़ा। इसलिए वचन नियम या व्रत में किसीको बाधना नही चाहिए और अगर किसीसे वचन लेना ही पडे तो वह वचन अपना समझकर उसे पूरा कराने की सावधानी पहले रखनी चाहिए। उसे पूरा करने में हर तरह से मदद करनी चाहिए। सचाई का यह गुण हमारे अदर होना चाहिए।

बाइबल में कहा है, "ईश्वर की कसम न खाओ।" आपके दिल में 'हा' हो तो हा कहिए, और 'ना' हो तो ना कहिए। लेकिन हमारे यहा तो राम-दुहाई भी काफी नही समझी जाती। कोई भी बात तीन बार वचन दिये बिना पक्की नही मानी जाती। सिर्फ 'हा' कहने का अर्थ इतना ही है कि "आपकी बात समझ मे आगई, अब देखेंगे, विचार करेंगे।" किसी मजबूत पत्थर पर एक-दो चोट लगाइए तो उसे पता भी नही चलता। दस-पाच मारिए, तब वह सोचने लगता है कि शायद कोई व्यायाम कर रहा है। पचास चोटें लगाइए तब कही उसे पता चलता है कि "अरे, यह व्यायाम नही कर रहा है। यह तो मुझे फोडने जा रहा है।" एक बार 'हा' कहने का कोई अर्थ नही। दो बार कहने पर वह सोचने लगता है कि मैंने 'हा' कर दी है। और जब तीसरी बार 'हा' कहता है तब उसके ध्यान में आता है कि मैंने जान-

बूझकर 'हां' कही है। कुल का अर्थ इतना ही है कि सूक्ष्म दृष्टि से झूठ हमारी नस-नस में भिद गया है। इसलिए कार्यकर्त्ताओं को अपने लिए यह नियम बना लेना चाहिए कि जो बात करना कबूल करें उसे करके ही दम लें। इसमें तनिक भी गलती न करें। दूसरे से कोई वचन न लें। उस झंझट में न पड़ें।

अब कार्यकर्ताओं से कार्यकुशलता के बारे में दो-एक बातें कहना चाहता हूं। जब हम कार्य करने जाते हैं तो चालू पीढ़ी के बहुत पीछे पड़ते हैं। चालू पीढ़ी का तो विशेषण ही 'चालू' है। वह चलती चीज है। उसकी सेवा कीजिए। लेकिन उसके पीछे न पड़िए। उसके शरीर के समान उसका मन और उसके विचार भी एक सांचे में ढले हुए होते हैं। जो नई बात कहना हो वह नौजवानों से कहनी चाहिए। तरुणों के विचार और विकार दोनों बलवान् होते हैं। इस-लिए कुछ लोग उन्हें उच्छृंखल भी कहते हैं। इसमें सचाई इतनी ही है कि वे बलवान् और वेगवान् होते हैं। अगर उनके विचार बलवान् हो सकते हैं तो वैराग्य भी जबरदस्त हो सकता है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है वैसे-वैसे विकारों का शमन होता जाता है। मोटे हिसाब से यह सच है। लेकिन इसका कोई भरोसा नहीं। यह कोई शास्त्र नहीं है। हमारी बात चालू पीढ़ी को अगर जंचे तो अच्छा ही है, और न जंचे तो भी कोई हानि नहीं। भावी पीढ़ी को हाथ में लेना चाहिए। युवक ही नए-नए कामों में हाथ डालते हैं, बूढ़े नहीं। विकार किस तरह बढ़ते या घटते हैं, यह मैं नहीं जानता। लेकिन इतना तो मानना पड़ेगा कि वृद्धों की अपेक्षा तरुणों में आशा और हिम्मत ज्यादा होनी है।

दूसरी बात यह है कि कार्य शुरू करते ही उसके फल की आशा नहीं करनी चाहिए। पांच-दस साल काम करने पर भी कोई फल नहीं होता देखकर निराश न होना चाहिए। हिंदुस्तान के लोग हजार साल के बूढ़े हैं। जब किसी गांव में कई नया कार्यकर्त्ता जाता है तो वे सोचते हैं कि ऐसे तो कई देख चुके हैं। साधु-संत भी आये और चले गए। नया कार्यकर्त्ता कितने दिन टिकेगा, इसके विषय में उन्हें संदेह होता रहता है। अगर एक-दो साल टिक गया तो वे सोचते हैं कि शायद टिक भी जाय। अनुभवी समाज है। वह

प्रतीक्षा करता रहता है। अगर लोग अपनी या हमारी मृत्यु तक भी राह देखते रहें तो कोई बडी बात नही।

ग्रामवासियो से 'समरस' होने का ठीक-ठीक मतलब समझना चाहिए। उनका रग हमपर भी चढ जाय, इसका नाम उनसे मिलना नही है। इस तरह मिलने से तद्रूपता आने लगती है। मेरे मत से समाज के प्रति आदर का जितना महत्व है उतना परिचय का नही। समाज के साथ समरस होने से उसका लाभ ही होगा, अगर हम ऐसा मानें तो इसमें अहकार है। हम कोई पारस पत्थर है कि हमारे केवल स्पर्श से समाज की उन्नति हो जायगी? केवल समाज से समरस होने से काम होगा, यह मानने मे जडता है। रामदास कहते है, "मनुष्य को ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए। समुदाय को हौसला रखना चाहिए, लेकिन अखड और स्थिर होकर एकात सेवन करना चाहिए।" वे कहते है कि, "कोई जल्दी नही है। शाति से अखड एकात-सेवन करो।" एकात-सेवन से आत्म-परीक्षण का मौका मिलता है। लोगो से किस हद तक सपर्क बढाया जाय, यह ध्यान में आता है। अन्यथा अपना निजी रग न रहकर उसपर दूसरे रग चढने लगते है। कार्यकर्त्ता फिर देहातियो के रग का ही हो जाता है। उसके चित्त मे व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक होती है। फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालय की शरण लू। एकाध बडे आदमी के पास जाकर कहने लगता है कि मै दो-चार महीने आपका सत्सग करना चाहता हू। फिर वे महादेवजी और ये नदी, दोनो एक जगह रहने लगते है। वह कहता है, "मै बडा होकर खराब हुआ। अब तू मेरे पास रहता है। इसमें कोई लाभ नही।" इसलिए समाज में सेवा के ही लिए ही जाना चाहिए। बाकी का समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षण में बिताना चाहिए। आत्म-परीक्षण के बिना उन्नति नही हो सकती। अपने स्वतन्त्र समय मे हम अपना एकाध प्रयोग भी करे। कई कार्यकर्त्ता कहते हैं, "क्या करे, चितन के लिए समय ही नही मिलता। जरा बैठे नही कि कोई-न-कोई आया नही।" जो आये उससे बोलने में समय बिताना सेवा नही है। कार्यकर्त्ता को स्वाध्याय और चितन के लिए अलग

समय रखना चाहिए। एकांत-सेवन करना चाहिए। यह भी देहात की सेवा ही है।

एक बात स्त्रियो के सबध में। स्त्रियो के लिए कोई काम करने में हम अपनी हतक समझते है। पौनार का ही उदाहरण लीजिए। व्याकरण के अनुसार जिनकी गणना पुल्लिग में हो सकती है ऐसा एक भी आदमी अपनी धोती आप नही फीचता। बाप के कपडे लडकी धोती है, और भाई के कपडे बहन को धोने पडते है। मा की साडी फीचने में भी हमें शर्म आती है, तो पत्नी की साडी धोने की तो बात ही क्या ? अगर विकट प्रसग आ जाय तो कोई रिश्तेदारिन धो देती है। और वह भी न मिले तो पडोसिन यह काम करेगी। अगर वह भी न मिले और पत्नी की साडी साफ करने का मौका आ ही जाय, तो फिर वह काम शाम को, कोई देख न पाय ऐसे इतजाम से, चुपचाप, चोरी से, कर लिया जाता है। यह हालत है ! और मेरा प्रस्ताव तो इससे बिल्कुल उलटा है। लेकिन अगर आप मेरी बात पर अमल करे तो आगे चलकर वे स्त्रिया ही आपके कपडे बना देंगी, इसमें तनिक भी शका नही। एक बार मै खादी का एक स्वावलबन-केंद्र देखने गया। दफ्तर में कोई सत्तर-पचत्तर स्वावलबी खादी-धारियो की तालिका टगी हुई थी। लेकिन उसमें एक भी स्त्री नही थी। यहा जो सभा हुई उसमे मेरे कहने से खासकर स्त्रिया भी बुलाई गई थी। मैंने पूछा, "यहा इतने स्वावलबी खादीधारी पुरुष है, तो क्या स्त्रिया न कातेंगी ?" स्त्रियो ने जवाब दिया, "हम ही तो कातती है।" तब मैंने खुद कातनेवाले पुरुषो से हाथ उठाने को कहा। कोई तीन-चार हाथ उठे। शेष सब स्त्रियो द्वारा काते गये सूत के जोर पर स्वावलबी थे। इसलिए कहता हू कि फिलहाल उनके लिए महीन सूत कातिए। आगे चलकर वे ही आपके कपडे तैयार कर देंगी। कम-से-कम खादी-यात्रा में पहनने के लिए एक साडी अगर आप उन्हें आप बना दें तो भी मै सतोष मान लूगा। अगर वे वहा आयगी तो कम-से-कम हमारी बातें उनके कानो तक पहुचेंगी।

प्रतीक्षा करता रहता है। अगर लोग अपनी या हमारी मृत्यु तक भी राह देखते रहें तो कोई बडी बात नही।

ग्रामवासियो से 'समरस' होने का ठीक-ठीक मतलब समझना चाहिए। उनका रग हमपर भी चढ जाय, इसका नाम उनसे मिलना नही है। इस तरह मिलने से तद्रूपता आने लगती है। मेरे मत से समाज के प्रति आदर का जितना महत्व है उतना परिचय का नही। समाज के साथ समरस होने से उसका लाभ ही होगा, अगर हम ऐसा मानें तो इसमे अहकार है। हम कोई पारस पत्थर है कि हमारे केवल स्पर्श से समाज की उन्नति हो जायगी? केवल समाज मे समरस होने से काम होगा, यह मानने मे जडता है। रामदास कहते है, "मनुष्य को ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए। समुदाय को हौसला रखना चाहिए, लेकिन अखड और स्थिर होकर एकात सेवन करना चाहिए।" वे कहते हैं कि, "कोई जल्दी नही है। शाति से अखड एकात-सेवन करो।" एकात-सेवन से आत्म-परीक्षण का मौका मिलता है। लोगो से किस हद तक सपर्क बढाया जाय, यह ध्यान मे आता है। अन्यथा अपना निजी रग न रहकर उसपर दूसरे रग चढने लगते है। कार्यकर्त्ता फिर देहातियो के रग का ही हो जाता है। उसके चित्त में व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक होती है। फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालय की शरण लू। एकाध बडे आदमी के पास जाकर कहने लगता है कि मै दो-चार महीने आपका सत्सग करना चाहता हू। फिर वे महादेवजी और ये नदी, दोनो एक जगह रहने लगते है! वह कहता है, "मै बडा होकर खराब हुआ। अब तू मेरे पास रहता है। इसमें कोई लाभ नही।" इसलिए समाज में सेवा के ही लिए ही जाना चाहिए। बाकी का समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षण में बिताना चाहिए। आत्म-परीक्षण के बिना उन्नति नही हो सकती। अपने स्वतन्त्र समय में हम अपना एकाध प्रयोग भी करें। कई कार्यकर्त्ता कहते हैं, "क्या करें, चितन के लिए समय ही नही मिलता। जरा बैठे नहीं कि कोई-न-कोई आया नही।" जो आये उससे बोलने में समय बिताना सेवा नही है! कार्यकर्त्ता को स्वाध्याय और चिंतन के लिए अलग

समय रखना चाहिए। एकात-सेवन करना चाहिए। यह भी देहात की सेवा ही है।

एक बात स्त्रियों के सबध मे। स्त्रियो के लिए कोई काम करने में हम अपनी हतक समझते है। पौनार का ही उदाहरण लीजिए। व्याकरण के अनुसार जिनकी गणना पुल्लिग में हो सकती है ऐसा एक भी आदमी अपनी धोती आप नही फीचता। बाप के कपडे लडकी धोती है, और भाई के कपडे बहन को धोने पडते है। मा की साडी फीचने मे भी हमे शर्म आती है, तो पत्नी की साडी धोने की तो बात ही क्या ? अगर विकट प्रसग आ जाय तो कोई रिश्तेदारिन धो देती है। और वह भी न मिले तो पडोसिन यह काम करेगी। अगर वह भी न मिले और पत्नी की साडी साफ करने का मौका आ ही जाय, तो फिर वह काम शाम को, कोई देख न पाय ऐसे इतजाम से, चुपचाप, चोरी से, कर लिया जाता है। यह हालत है! और मेरा प्रस्ताव तो इसमे बिल्कुल उलटा है। लेकिन अगर आप मेरी बात पर अमल करें तो आगे चलकर वे स्त्रिया ही आपके कपडे बना देंगी, इसमें तनिक भी शका नही। एक बार मैं खादी का एक स्वावलबन-केंद्र देखने गया। दफ्तर में कोई सत्तर-पचत्तर स्वावलबी खादी-धारियो की तालिका टगी हुई थी। लेकिन उसमें एक भी स्त्री नही थी। यहा जो सभा हुई उसमे मेरे कहने से खासकर स्त्रिया भी बुलाई गई थी। मैंने पूछा, "यहा इतने स्वावलबी खादीधारी पुरुष हैं, तो क्या स्त्रिया न कातेंगी ?" स्त्रियो ने जवाब दिया, "हम ही तो कातती है।" तब मैंने खुद कातनेवाले पुरुषो से हाथ उठाने को कहा। कोई तीन-चार हाथ उठे। शेष सब स्त्रियों द्वारा काते गये सूत के जोर पर स्वावलबी थे। इसलिए कहता हू कि फिलहाल उनके लिए महीन सूत कातिए। आगे चलकर वे ही आपके कपडे तैयार कर देगी। कम-से-कम खादी-यात्रा में पहनने के लिए एक साडी अगर आप उन्हें आप बना दें तो भी मै सतोप मान लूगा। अगर वे वहा आयगी तो कम-से-कम हमारी बातें उनके कानो तक पहुचेंगी।

: ४१ :

चरखे का सहचारी भाव

पुराने जमाने की बात है। एक सत्य-वक्ता, विशुद्धमना साधु वन में तप करते थे। उनके शांत तप के प्रभाव से वहा के पशु-पक्षी आपसी वैर-भाव भूल गए थे, जिससे वन-का-वन एक आश्रम-जैसा बन गया था। जिस तप के बल से वन-केसरी का स्वभाव बदल जाय उससे इद्र का सिंहासन डोलने लगे तो इसमे क्या आश्चर्य है? इद्र ने उस साधु का तप भग करना तय किया। हाथ में तलवार ले योद्धा का भेस बना वह साधु के पास आये और बिनती करने लगे—"क्या आप मेरी यह तलवार कृपा करके अपने पास धरोहर की भांति रख लेंगे?" न जाने साधु ने क्या सोचकर उसकी बिनती मान ली। इद्र चले गए। साधु ने धरोहर सभालकर रखने की जिम्मेवारी ली थी, वह दिन-रात तलवार अपने साथ रखने लगे। देव-पूजा के लिए पुष्प आदि लेने जाते तो भी तलवार साथ होती। आरभ मे उन्होने विश्वास के नाते तलवार अपनाई थी, धीरे-धीरे तलवार पर उनका विश्वास जमता गया। तलवार नित्य साथ रखते-रखते तपस्या से श्रद्धा जाती रही। यह बात उनके ध्यान मे भी न आई। साधु क्रूर हो गया, इद्र का सिंहासन स्थिर और निर्भय होगया और वन के हरिण डर के मारे कापने लगे।

रामचद्रजी दडक वन मे घूमते समय उनके हाथो कही हिंसा न हो जाय, इस विचार से यह सुदर कथा सीताजी ने उनसे कही थी। हर वस्तु के साथ उसका सहचारी भाव आता ही है। इस कथा का इतना ही भाव है। जैसे सूर्य के समीप उसकी किरणे वैसे ही वस्तु के समीप उसका सहचारी भाव होता है।

हम कहते हैं चरखे का सर्वत्र प्रचार हो जाय तो स्वराज्य मिला ही समझिए। इसका मतलब बहुतो की समझ में नही आता। कारण, चरखे के सहचारी भाव उनके ध्यान में नही आते। घर में एक चरखा आते ही अपने साथ कितनी भावनाए लाता है, यह हम नही जानते। बिजली की भांति सारा

वातावरण पलभर में बदल जाता है। राजा के बाहर निकलने पर हम कहते हैं—"राजा की सवारी निकली है।" चरखा घर के भीतर आया तो चरखे की सवारी भीतर आती है। इस सवारी में कौन-कौन से सरदार शामिल होते है, इसपर विचार करें तो 'चरखे मे स्वराज्य' का रहस्य समझ मे आजाय।

थोडे दिन हुए एक धनिक सज्जन ने, जिन्होंने कांग्रेस के नियमानुसार हाल में ही चरखा कातना शुरू किया था, चरखे के विषय में अपना यह अनुभव बताया था : "पहले मेरे मन में चाहे जैसे-तैसे व्यर्थ विचार आया करते थे। चरखा कातना शुरू करने पर-यह बात अपने-आप बद होगई। बीच में एक बार जी में आया कि बडे लोग मोटर रखते हैं, मै भी एक मोटर ले लू। पर तुरत ही यह विचार हुआ कि एक ओर चरखा और दूसरी ओर मोटर के पीछे मेरा पैसा विदेश जाय, यह ठीक नही। मोटर के बिना मेरा कोई काम अटका भी नही है। यह अनुभव एक-दो का नही, बहुतो का है। चरखे के सहचारी भावो में गरीबो के प्रति सहानुभूति, गरीबी की कद्र और उसमें ही रस मानना एक महत्वपूर्ण भाव है। गरीब और अमीर में एकता लाने की सामर्थ्य जितनी चरखे में है उतनी और किसी चीज में नही।

गरीब और अमीर का झगडा सारी दुनिया को परेशान कर रहा है। इसे मिटाने की शक्ति अकेले चरखे में ही है। गरीब-अमीर एक हो जायं तो स्वराज्य मिलते कितनी देर ?

आज अपने समाज के, अधा मजदूर, लगडा पंडित, ये दो भाग होगये है। सुशिक्षितो में स्वराज्य की भावना है, पर कार्य करने की शक्ति नहीं। अशिक्षितो में कार्य करने की शक्ति है तो भावना नही। अधे और लगडे की इस जोड़ी को जोडने की कला केवल चरखे में है। यो तो चरखा एक सीधी-सादी-सी चीज दिखाई देता है। और है भी वह ऐसी ही। पर इस सीधी-सी वस्तु के लिए भी बढई, लुहार, चमार आदि के चरणों में बैठना पडता है। अपने छोटे भाई को मैंने एक बढई के पास काम सीखने को रखा था। शुरू-शुरू में तो बढ़ई बडे अदब से सिखाता बताता था, पर थोडे दिन बाद ही उसे मालूम होगया कि मेरा शिष्य और बातो मे चाहे विद्वान् हो पर इस काम में मूर्ख है।

फलत एक दिन धमकाकर बोला "इतना बताया तो भी 'तू नही समझता?" शुरू-शुरू में वह 'तुम' कहता था। लेकिन उम्र छोटी होते हुए भी जब उसके मुह से 'तू' निकल पडा तो मुझे आनद हुआ। जान पडा स्वराज्य पास आ गया है। एक बार मैं चरखा कात रहा था, एक ढेड बुनकर मुझसे मिलने आया। (यह सयोग भी चरखे के आदोलन के बिना नही आता।) मैं कातते-कातते उसके साथ बातें करता जाता था। तकुए में कुछ दोष था, जिससे अच्छा कातते नही बनता था। उस ढेड के ध्यान मे तुरत यह बात आगई थी और क्या दोष है, यह उसने मुझे बताया। मुझ जैसे 'विद्वान्' को सिखाने मे उसको कितना आनद आया होगा और हम एक दूसरे के कितने पास आये होगे! सुशिक्षित और अशिक्षित एक हो जाय तो स्वराज्य क्यो न मिले?

आज हिंदू-मुसलमानो के झगडा का प्रश्न बडा विकट होगया है। मैं समझता हू कि इसे हल करने की शक्ति भी केवल चरखे में ही है। प्रत्येक मदिर और मसजिद मे चरखे का प्रवेश होजाय तो सब झगडे खत्म हो जाय। अवश्य ही, आज की परिस्थिति मे ऐसा होने के लिए भी दूसरी कितनी ही वस्तुओ की सहायता दरकार होगी। लेकिन चरखा कातनेवाला कोई भी हिंदू या मुसलमान एक दूसरे का सिर तोडने को कभी तैयार न होगा, यह बात पक्की है। जिस तरह तलवार को साथ रखते-रखते मनुष्य हिंसक बन जाता है उसी तरह वह चरखे के साथ से शात बन जाता है। शाति या अहिंसा ही चरखे का सहचारी भाव है। समाज मे शाति स्थापित हो और उससे हिंदू-मुस्लिम झगडो का अत हो जाय तो स्वराज्य क्यो न मिले?

चरखे के सहचारी भावो के यथार्थ स्वरूप का वर्णन नही किया जा सकता। और किया भी जाय तो केवल पढकर वह समझा नही जा सकता। उसके लिए तो खुद चरखे से ही दोस्ती करनी होगी। दोस्ती पक्की होते ही चरखा खुद ही अपने सब रहस्य बता देता है। उसकी सगीत-मधुर-वाणी एक बार कान में पडी कि सारी कुशकाएं मिटी समझिए। इसलिए यह लेख पूरा करने के पचडे में न पडकर, उसका बाकी हिस्सा पाठक चरखे में से कात लें। उनसे इतनी प्रार्थना करके मैं यही विश्राम लेता हू।

: ४२ :

सारे धर्म भगवान् के चरण हैं

पिछले दिनों बबई में इस्लाम के एक अध्येता श्री मुहम्मदअली का 'कुरान के अध्ययन' पर एक भाषण हुआ था। उसमें उन्होंने जो विचार प्रकट किये थे, वैसे आजकल के असहिष्णु युग में बहुत कम सुनाई देते हैं।

उन्होंने कहा, "कुरान के उपदेश के सबध में हिंदुओं या ईसाइयों के दिलों में होनेवाली विपरीत भावनाओं की जिम्मेदारी मुसलमानों की है। परधर्मों के विषय में जो वृत्ति कुरान की मानी जाती है, उसके लिए वस्तुत कुरान जिम्मेदार नहीं है, बल्कि वे चद मुसलमान है जो कुरान के उपदेश के खिलाफ आचरण कर रहे हैं। कुरान का उचित रीति से अध्ययन करने से विदित होगा कि कुरान की रू से जहा-जहा ईश्वर-शरणता है, वहा-वहा इस्लाम है। मैं खुद किसी समय नास्तिक और ऊपरी—अर्थात् हिंदू-विरोधी या ईसाई-विरोधी के अर्थ में—मुसलमान था। पर कुरान पढने पर इस्लाम का असली अर्थ मेरी समझ में आगया और आज मैं एक सच्चे हिंदू या सच्चे ईसाई को असली मुसलमान समझ सकता हू।"

यह दृष्टि शुद्ध है। सच्चे हिंदू में मुसलमान है और सच्चे मुसलमानों में हिंदू हैं। हममें पहचाननेभर की शक्ति होनी चाहिए। विट्ठल का उपासक विट्ठल की उपासना कभी नहीं छोड़ेगा। वह जन्मभर विट्ठल का ही उपासक रहेगा। लेकिन वह राम की उपासना का विरोध न करेगा। वह विट्ठल में भी राम देख सकता है। यही बात रामोपासक पर लागू है। उसे राम की मूर्ति में विट्ठल के दर्शन होते हैं ?[1]

धर्माचरण एक उपासना है। उपासना में विरोध की गुजायश नहीं। जैसे 'राम' और 'विट्ठल' एक ही परमेश्वर की मूर्त्तिया हैं, और इसलिए उनमें

[1] तुलसीदासजी ने कहा नहीं है—मोर मुकुट कटि काछनी, भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक तब नमे धनुष बाण लो हाथ।"

विशिष्टता होते हुए भी उनका विरोध नही है, वैसे ही हिंदू-धर्म, मुस्लिम-धर्म इत्यादि एक ही सत्य धर्म की मूर्त्तिया है, इसलिए उनमें विशिष्टता होते हुए भी विरोध नही है। जो ऐसा देखता है वही वास्तव मे देखता है।

रामकृष्ण परमहस ने भिन्न-भिन्न धर्मों की साधना स्वय करके सब धर्मों की एकरूपता प्रत्यक्ष कर ली। तुकाराम ने अपनी उपासना के सिवा दूसरे किसीकी उपासना न करते हुए भी सारी उपासनाओ की एक-वाक्यता जान ली। जो स्वधर्म का निष्ठा से आचरण करेगा, उसे स्वभावत ही दूसरे धर्मों के लिए आदर रहेगा। जिसे पर-धर्म के लिए अनादर हो उसके बारे मे समझ लीजिए कि वह स्वधर्म का आचरण नही करता।

धर्म का रहस्य जानने के लिए न तो कुरान पढने की जरूरत है, न पुराण पढने की सारे धर्म भगवान के चरण है इतनी एक बात जान लेना बस है।